भारत की अन्तरात्मा

भारत की अन्तरात्मा

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
उप-राष्ट्रपति, भारत

अनुवादक
विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, एम० ए०, एम० एड०

१९५६
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ

विषय-सूची

१

हिन्दू-धर्म की अन्तरात्मा

इस निबन्ध में मै हिन्दू-धर्म के मुख्य-मुख्य अगो का वर्णनमात्र कर देना चाहता हूँ जिससे सक्षेप में हिन्दुओ के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो का, उनकी धार्मिक अनुभूति का, उनके आचरणशास्त्र एव विश्वास-परम्परा का, यथायथ दिग्दर्शन हो जाय, उसकी वकालत करना अथवा उसके समर्थन में कुछ कहना हमें अभीष्ट नही।

दार्शनिक आधार. तर्क-प्रेम हिन्दू-धर्म की विशेषता है। भारतीय विद्वान् अपनी स्वप्निल आशाओ एव व्यावहारिक आत्म-विसर्जन में, सरलतम दुराग्रह एव उच्चतम काल्पनिक उडान में, चार-पाच हजार वर्ष के अनवरत दार्शनिक एव धार्मिक प्रयत्न मे, सत्य-भक्ति तथा यथार्थ प्रेम की भावना से प्रेरित होकर चरम समस्याओ को सुलझाने का प्रयास करते रहे है। इसे ब्राह्मण-सभ्यता कहते हैं क्योकि इसका सचालन उन ब्राह्मणो के हाथ में था जो किसी बात का निर्णय करते समय मन क्षोभो से विचलित नही होते थे एव जिनके सिद्धान्तो की आधार-शिला सच्ची अनुभूति होती थी।

जगत् की जिस विशेषता ने हिन्दू-दार्शनिकों को सत्य के अनुसन्धान की ओर आकृष्ट किया, वह है इसकी अनित्यता। उन्होंने देखा कि दृश्य जगत् विरामहीन परिवर्तन का शिकार है। उन्होंने प्रश्न किया—क्या यह अनित्यता, विनश्वरता, ही चरम-सत्य है अथवा इस विनाश की भी कोई सीमा कहीं है? उन्हें उत्तर मिला—जगत् में एक ऐसी वस्तु भी है जो नित्य है, वह है अविनाशी, अन्य-अपेक्षा-रहित परब्रह्म। हम सबके जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब इस अनन्तता की अनुभूति हम करते हैं, जब हमें इस महान् रहस्य का आभास मिलता है और जब हम उस परमात्मा के सान्निध्य का बोध करते हैं जो अपनी महत्ता से हमें आच्छन्न किये है। जीवन की उन शोकपूर्ण घड़ियों में भी जब हमें प्रतीत होता है कि हम एकान्त, दीन, परम अनाथ हैं, हमारे हृदय में स्थित परमात्मा हमें बराबर यह अनुभव कराता है कि ये सांसारिक दुःख-दैन्य तो उस बड़े नाटक की क्षुद्र घटनाएँमात्र हैं जिसका अन्त शक्ति, सौन्दर्य एवं प्रेम में होगा। उपनिषद् चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं—"यदि इस विश्व में आनन्द न होता तो यहाँ कोई जीव प्राण धारण ही कैसे करता?" तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह व्यक्त जगत् उसी एक अविभक्त ब्रह्म की नाना रूपों में अभिव्यक्ति है, उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति जो समस्त सृष्टि का नित्य आधार एवं पृष्ठभूमि है। धार्मिक दृष्टि से देखने पर यह परमेश्वर की आत्म-चेतना बन जाता है जो समस्त सृष्टि के उद्भव तथा लय में युक्त है। उसके सम्पूर्ण दीर्घ-जीवन में एकेश्वरवाद ही हिन्दू-धर्म का प्रमुख आदर्श रहा है। ऋग्वेद उस एक ही परमात्मा की बात करता है—एकम् सत्—जिसका वर्णन पंडित लोग नाना रूपों में किया करते हैं। उपनिषदों का कहना है कि अभिव्यक्ति के

स्तर के अनुसार एक ही ब्रह्म को भिन्न-भिन्न नामो से अभिहित किया जाता है। त्रिमूर्ति की कल्पना का उदय महाकाव्यकाल में हुआ और पुराण काल तक वह भली भाँति प्रतिष्ठित हो गई। मानव-चेतना के ज्ञान, मन.क्षोभ एव चेष्टा व्यजक तीन गुणो का ही सूचक सत् चित् आनन्द परमात्मा का नाम रखा गया है। सत्व अथवा ज्ञानजात अव्यग्रता, रजस् अथवा वह शक्ति जो उत्साह से उत्पन्न होती है, तमस् अथवा वह शैथिल्य जो ज्ञान अथवा सयम के अभाव का फल है—यही वे तीन गुण है जो समस्त सृष्टि में पाये जाते है और सर्व-वस्तु-व्यापक इन तीन गुणो से ईश्वर भी मुक्त नही समझा जाता। सृष्टि, स्थिति एव लय की तीनो क्रियाएँ रजस्, सत्व एव तमस् के ही कारण होती है। विश्व के रक्षक विष्णु परमात्मा का ही सत्व-प्रधान रूप है। सृष्टिकर्ता ब्रह्म उसी ईश्वर के रज प्रधान, एव सृष्टि-सहारक शिव उसी ईश्वर के तम प्रधान रूप के द्योतक है। एक ही ईश्वर के तीन गुणो को विकसित करके तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति बना दिये गये है। और इनमें से प्रत्येक अपनी ही विशिष्ट शक्ति से कार्य करता है, अतएव ब्रह्मा, विष्णु एव शिव के ही समान सरस्वती, लक्ष्मी, उमा तथा उनकी शक्तियो की कल्पना कर ली गई। सच तो यह है कि ये सभी गुण एव कार्य एक ही परमात्मा में इस प्रकार साम्यावस्था में स्थित है कि यह भी कहा जा सकता है कि उसमें कोई गुण ही नही है, वह निर्गुण है।* एक ही अज्ञेय ईश्वर, जो सर्वविद्, सर्वव्यापक एव सर्वशक्तिमान् है। नाना जनो को नाना

* रजोगुण. स्मृतो ब्रह्मा, विष्णु सत्व गुणात्मकः।
तमो गुण स्तथा रुद्रो, निर्गुण परमेश्वर ॥

मे, भावुक का भगवान् हृदय में, मन्द बुद्धि का मूर्ति में एव ज्ञानी का परमात्मा सर्वत्र ही निवास करता है।"

हिन्दू धर्म तथा दर्शन मानता है कि समय-समय पर आनेवाले सृष्टि एव प्रलय के चक्र उस एक ही विश्व-हृदय के स्फुरण तथा सकोचन के प्रतीक हैं जो सदा ही निष्क्रिय तथा सदा ही सक्रिय रहता है। समस्त ससार ईश्वर का व्यक्त स्वरूप है। सायण का कहना है कि समस्त पदार्थ परमात्मा के आविर्भाव के उपाधेयमात्र है।* ये पदार्थ भिन्न वर्गो में विभक्त किये गये है। "इनमें से जो सांस लेते है वे श्रेष्ठ है, उनमें भी वे श्रेष्ठ है जिनके मस्तिष्क विकसित है, उनमें वे श्रेष्ठ है जो ज्ञान का प्रयोग करते है और सर्वश्रेष्ठ वे है जिन्होने प्राणिमात्र मे ब्रह्म की एकता का अनुभव कर लिया है।† एक ही मूल आत्मा इन नाना रूपो में अभियुक्त हो रही है।

मनुष्य के भीतर जो अनन्त है वह सान्त संसार के नाशमान् रूप से सन्तुष्ट नही होता। हमारे दु खो का कारण यह है कि हम अपने भीतर ईश्वर को नही देख पाते। हममें जो सान्त एव अनित्य है यदि हम उससे बचे रह सकें तो मुक्ति पा सकते है। जीवन में जितना ही अधिक हम अपने भीतर स्थित अनन्त को व्यक्त कर सकेंगे, पदार्थों की श्रेणी में हमारा स्थान उतना ही उच्च होगा। वहुत प्रथम अभिव्यक्तियाँ ही अवतार कहलाती है। अवतार कोई अद्भुत,चमत्कारपूर्ण ईश्वर का ससार में प्रकट होना नही है, वे तो

* परमात्मन सर्वेऽपि पदार्था आविर्भावोपाधेया

† मनु, १

उसी महान् शक्ति की उच्च अभिव्यक्तियाँमात्र है जिनका सामान्य अभिव्यक्तियो से केवल मात्रा में भेद है। गीता का वचन है कि यद्यपि ईश्वर सभी मे है पर वह विशेषरूप में उसी पदार्थ मे व्यक्त होता है जिसमें महत्ता पाई जाती है। ऋषि, बुद्ध, पैगम्बर, ईसा आदि उसी विश्वात्मा की प्रबल अभिव्यक्तियाँ है। गीता का कहना है कि आवश्यकता पडने पर वे सदा ही प्रगट होती रहेंगी। हमारे जीवन में जब पतन की ओर ले जानेवाली भौतिक मनोवृत्ति की प्रबलता होती है तो धर्म का पुन: सस्थापन करने के लिए कोई राम अथवा कृष्ण, बुद्ध अथवा ईसा हमारे बीच अवश्य आ जाता है। इन पुरुषो मे—जो इन्द्रियो पर विजय पा लेते है, जो प्रेम को सर्वत्र बिखेर देते है और जो हममें सत्य एव धर्म के प्रति स्नेह भर देते है—ईश्वर की शक्ति घनीभूत हो गई है। वे हमें सच्चे मार्ग, जीवन तथा सत्य का दर्शन कराते है। वे अपनी अन्ध-पूजा भी नही करने देते क्योकि उससे आत्मसाक्षात्कार में कुछ बाधा पडती है। रामचन्द्रजी ने अपने को साधारण मनुष्य से अधिक कहकर नही प्रचारित किया—"आत्मानम् मानुषम् मन्ये, राम दशरथात्मजम्"। जिस हिन्दू को अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान है वह उन सबकी श्रद्धा और भक्ति करता है जो लोक-कल्याण में लगे है। उसका विश्वास है कि ईश्वर किसी भी मनुष्य के रूप में अवतरित हो सकता है जैसे ईसा और बुद्ध में हुआ था। यदि ईसाई इस बात को मान लें कि बिना ईसा की मध्यस्थता के भी मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है तथा ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है तो ईसाई-धर्म के आधारभूत सिद्धान्तो को हिन्दू सहर्ष स्वीकार कर लेगा। ईश्वर की अभिव्यक्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उल्लघन नही होता प्रत्युत् वह तो मनुष्य के

नैसर्गिक आत्म-प्रकाशन का उच्चतम स्वरूप है क्योंकि मनुष्य का सच्चा रूप तो अलौकिक ही है। मानव-अस्तित्व में अन्तर्निहित अनन्त की क्रमिक अभिव्यक्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है। इसकी सामान्य गति नैतिक कारणता अथवा कर्म-विपाक के सिद्धान्त पर निर्भर है। हिन्दू धर्म एक ऐसे परमात्मा में विश्वास नही करता जो अपने सिहासन पर बैठा-बैठा प्रत्येक व्यक्ति को जांचता है और तब उसके सम्बन्ध में उचित निर्णय देता है। दूर बैठकर मनमानी रीति से किसी के दण्ड में वृद्धि करके तथा किसी में कमी करके वह न्याय का विधान नही किया करता। ईश्वर मनुष्य में ही है, अतएव कर्म-विपाक का सिद्धान्त उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक है। प्रत्येक क्षण मनुष्य की परीक्षा हो रही है। उसका प्रत्येक निश्छल प्रयत्न उसके अनन्त प्रयास में सहायक होगा। हम जिस स्वभाव का सृजन करते है वह आगे भी तब तक बना रहेगा जब तक कि हम परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव नही कर लेते। हम उस परमात्मा की सन्तान है जिसके लिए एक हजार वर्ष एक दिन के बराबर है। अत यदि एक जीवन में पूर्णता न भी प्राप्त हो सके तो हमें हताश नही होना चाहिए। सभी हिन्दू पुनर्जन्म मानते है। ससार का अस्तित्व हमारी गलतियो के कारण है। सृष्टि-चक्र के चलते रहने में कारण हमारे वे ही गत जीवन हुआ करते है जिनके लिए पुनर्जन्म आवश्यक है। भूत में असख्य बार विश्व की सृष्टि एव सहार हो चुका है और भविष्य में अनन्त काल तक बराबर इसी प्रकार इसका उद्भव तथा लय होता रहेगा।

धार्मिक अनुभूति. धर्म यह प्रयत्न करता है कि मनुष्य को अपने देवत्व का ज्ञान करा दे, केवल कोरा बौद्धिक ज्ञान देकर नहीं

किन्तु उससे तादात्म्य की अनुभूति कराकर। इस अनुभूति के लिए किसी विशिष्ट मार्ग का निर्देश नही किया जा सकता। मनुष्य की आत्मा अनन्त-स्वभावा है, अत उसकी शक्ति-सम्भावनाएँ भी अनन्त है। उसका ज्ञेय परमात्मा भी उसी भाँति अनन्त है। असीम परिस्थिति के प्रति अनन्त आत्मा की प्रतिक्रियाएँ सीमित नही की जा सकती। हिन्दू-दार्शनिको का विश्वास है कि अनन्तरूप जीवन को थोडे-से बँधे हुए रूपो मे समेटकर नही रखा जा सकता। एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का वचन है—"जिस प्रकार आकाश में उडनेवाली चिडियाँ तथा समुद्र में तैरनेवाली मछलियाँ अपने मार्ग में कोई चिह्न नही छोडती, ठीक वैसे ही भगवत्प्राप्ति के पथ पर आत्म-साक्षात्कार-रसिक अग्रसर होते है।"* उपनिषदो के ऋषियो ने, यहूदी पैगम्बरो ने तथा धर्म-सस्थापको ने परमात्मा का शब्द सुना है, उसके सान्निध्य की अनुभूति की है। ईश्वर अपने भक्तो के प्रति सदा ही न्यायपूर्ण, पक्षपातरहित व्यवहार करता है, वे उसे चाहे जिस नाम से पुकारें एव उसकी उपासना के लिए चाहे जिस सरणि का उपयोग करें। गीता में भगवान् का वचन है—"जो कोई जिस किसी रूप में मेरे पास आता है मै उसी रूप में अवश्य उसको मिलता हूँ।"

मानव-चेतना के त्रिविधिरूप के आधार पर ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग एव कर्म-मार्ग के विभाग किये गये है। ज्ञान, अनुभूति तथा चेष्टा कोई तीन भिन्न-भिन शक्तियाँ नही है, वे तो एक ही अनुभव

* इस सम्बन्ध मे हमारे 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ का गीता-विषयक अध्याय देखिये।

के तीन दृष्टिकोण है। तीनो ही अपना-अपना अश उसकी पूर्ति में देते है एव सभी एक दूसरे में व्याप्त है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् इच्छा, सम्यक् क्रिया ये तीनो ही एक साथ रहते है। पहला हमें सत्य का दर्शन कराता है, दूसरा उसमें अनुराग उत्पन्न कराता है एव तीसरा हमें जीवन की रचना में लगाता है। भावना की उष्णता से हीन कोरा ज्ञान हृदय को हिम के समान शीतल कर देता है। ज्ञान से अप्रकाशित कोरी भावुकता पागलपन है। जिस कर्म को ज्ञान का पथ-प्रदर्शन तथा स्नेह की स्फूर्ति नही मिलती उसे अर्थहीन सस्कार-पद्धति अथवा उन्मुक्त चचलता ही समझना चाहिए। पूर्ण जीवन की सश्लिष्ट अनुभूति में तीनो ही सम्मिलित है। भिन्न-भिन्न पुरुष भिन्न-भिन्न अगो पर विशेष बल देते है, अतएव जीवन समस्या को वे भिन्न-भिन्न मार्गो से सुलझाने का प्रयास करते है।

गीता का वचन है कि "ज्ञान के समान पूर्ति-विधायक और कुछ नही है।" यह ज्ञान उसी विवेचना का नाम है जिसे यथार्थ आत्म-ज्ञानी सनत्कुमार तथा शुष्क पाण्डित्य के प्रतिनिधि नारद के उपनिषत्प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में कोरी बकवास कहकर उडा दिया गया है। मनुष्य की मूल प्रकृति तो आत्म-स्वातन्त्र्य एव ज्ञान है। अपनी परिच्छिन्नता के कारण हम अपने सत्य-स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर भ्रम में पडे रहते है। तर्कशास्त्र का मुख्य कार्य यह बताना नही है कि मनुष्य को ज्ञान क्यो अथवा कैसे होता है, वरन् यह बताना है कि वह क्यो अथवा कैसे ज्ञान-प्रक्रिया में असफल होता है। भूल का कारण हमारा सीमित ज्ञान है। सत्य का प्रत्यक्ष करके इन सीमाओ का ध्वसन करना ही मानसिक विकास कहलाता है। भाव अथवा मरेन पर निर्भर न रहनेवाला यह ज्ञान सत्य में ही निवास करता

है। विचार एव तर्क ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक हो सकते हैं। गीता युक्तिपूर्ण आन्तरिक सूझ पर जोर देती है—ज्ञानम् विज्ञान सहितम्। बौद्धिक सहारे के बिना सम्भव है हमारी आन्तरिक सूझ व्यक्तिगत भावुकता ही रह जाय। इस रक्षक वाक्य में गीताकार का यह सकेत पाया जाता है कि सत्य की प्रत्यक्षानुभूति में सार्वभौमिकता रहती है। यह प्रत्यक्षानुभूति हमें विनम्रता की भावना से प्राप्त हो सकता है। यदि हम बौद्धिक अहकार का परित्याग कर दें तथा जिज्ञासु भाव को अपना लें तो स्वर्गीय वायु के झोके हम तक पहुँच सकते है। योगाभ्यास मन को इस योग्य बनाता है कि वह आभ्यन्तरिक निस्तब्धता के गम्भीर घोष को सुन सके। तब हम अपनी आत्मा से, विश्वात्मा से, तादात्म्य का अनुभव कर सकते हे।

ईश्वर-साक्षात्कार के लिए ज्ञान-मार्ग बहुत ही मन्द गति एवं कष्टपूण है। "इस समस्त विश्व के रचयिता एव पिता को प्राप्त करना बहुत कठिन है तथा उसे पाकर सबको बताना तो असम्भव ही है।"* हमारी आयु इतनी छोटी होती है एव अन्वेषण की गति इतनी धीमी! हम खाली बैठकर प्रतीक्षा नही कर सकते। हमें जानने की जल्दी है। हम किसी ऐसे धर्म को स्वीकार कर लेना चाहते है जो हमारे जीवन का सहारा बन सके, जो सन्देह-भावना से हमारी रक्षा कर सके एव व्यावहारिक जीवन में हमारा सहायक हो सके। ईश्वर साक्षात्कार के लिए लोगो की अधीरता उन नीम-हकीमो को अपना जाल बिछाने का मौका देती है जो अपने अनुयायियो को अल्प काल में ही मोक्ष प्राप्त करा देने का वादा किया

* प्लेटो—टिमियस २६

करते है। अन्ध विश्वास तथा जादू जनसाधारण का सम्बल बन गया है। ब्राह्मण-व्यवस्था में बुद्धि का पूर्ण परित्याग किसी दशा में भी नहीं किया गया है। सत्य की भावना ही लोक-जीवन का नियत्रण करती है। ऊँचे-से-ऊँचे दार्शनिक सत्य को साधारण बुद्धि के मनुष्यो की समझ में अपने योग्य कथा-कहानियो का रूप दे दिया गया है जिससे "सभी सुगमतापूर्वक जीवन के कठिन स्थलो को पार कर जायें, सभी आनन्द प्राप्त कर सकें, सभी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि कर सकें एव सभी सर्वत्र सुख-भोग कर सकें।"* पुराणो के उपाख्यान मन्द-बुद्धि-पुरुषो को चरम कल्याण का ज्ञान देकर उसमें उनकी रुचि उत्पन्न करते है तथा उनके आत्म-विकास में सहायता प्रदान करते है।

उपासना के जितने रूप देश में प्रचलित थे, हिन्दू-दार्शनिको ने उन सबको ही स्वीकार कर लिया तथा उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध कर दिया कि वे क्रमश ईश्वराराधन के श्रेष्ठतम रूप तक पहुँच जायँ उस रूप तक पहुँच जायें जो ईश्वर के निकट साहचर्य की अनुभूति का अभ्यास करता है। शिव-पुराण में लिखा है—† "उत्तमावस्था तो सहजावस्था है, दूसरी श्रेणी की अवस्था ध्यान एव

* सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु
सर्व स्तद् बुद्धिमाप्नोतु, सर्वस्सर्वत्र नन्दतु—भागवत पुराण।
स्पिनोजा के कथन से तुलना कीजिए—"परम कल्याण सार्व-जनीन है तथा उसकी प्राप्ति सबको समानरूप से होना चाहिए।"

† उत्तमा सहजावस्था, द्वितीया ध्यान धारणा।
तृतीया प्रतिमा पूजा, होम यात्रा चतुर्थिका।।

धारणा है, तृतीय अवस्था प्रतिमा-पूजन है तथा चतुर्थ अवस्था तीर्थ-यात्रा तथा होम इत्यादि करने की है।" ऋग्वेद में मूर्ति-पूजा का नाम तक नही पाया जाता। अत स्पष्ट है कि इसका प्रचार बाद में हुआ। सभी मानते है कि अविकसित-मस्तिष्क-मनुष्यो के लिए ही इसकी उद्भावना हुई है। मनुष्य में आदिम युग के, सभ्यता-पूर्व-काल के, अनेक चिह्न अब भी पाये जाते है। वह ईश्वर की कल्पना रग-विरगे चित्रो के रूप में करना पसन्द करता है। वह अपने मनोभावो को कला एव सकेतो के द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। वे सत्य को व्यक्त करने के लिए कितन ही अपर्याप्त क्यो न हो, जब तक मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होते रहते है, लोग उन्हें सहन करते रहते है। जब तक वह ठीक दृष्टिकोण को व्यजित करता रहता है तब तक किसी भी प्रतीक को तिरस्कृत नही करना चाहिए। प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने "ग्रीक धर्म की चार अवस्थाएँ" नामक ग्रन्थ मे टायर-निवासी मैक्सिमस के लेख का उद्धरण दिया है जो मूर्ति-पूजा का बडा ही सुन्दर समर्थन है। उस उद्धरण में प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में हिन्दू-भावना का निचोड आ गया है—"उस ईश्वर की, जो सबका सृष्टा तथा पिता है, जो सूर्य एव आकाश से भी प्राचीन है, जो काल, अनन्तता तथा समस्त सत्ता प्रवाह से भी महान् है, किसी भी शास्त्री के द्वारा व्याख्या नही की जा सकती, वह वाणी के द्वारा प्रकट नही किया जा सकता, आँखो के द्वारा देखा नही जा सकता।" अतएव उसके सच्चे स्वरूप को समझने में अक्षम होने के कारण हम शब्दो की, नामो की, हाथी दाँत, चाँदी तथा सोने से निर्मित प्रतिमाओ की, वृक्ष तथा नदियो की, पर्वत, शिखर तथा निर्झरो की सहायता लते हैं एव उसके ज्ञान की तीव्र

जिज्ञासा हृदय में लेकर ससार में जहाँ भी जो कुछ सुन्दर देखते हैं उसी को उसका रूप कहकर प्रचार करने लगते है, ठीक वैसे ही जैसे लौकिक प्रेमी। प्रेमी की दृष्टि में ससार का सुन्दरतम पदार्थ उसकी प्रेमिका ही है किन्तु उसकी स्मृति जगाने की क्षमता रखने के कारण वह वीणा, माला, कुरसी, क्रीडा-भूमि अथवा किसी भी अन्य स्मृति-चिह्न को देखकर आनन्द से भर उठता है। अधिक विवेचना करके प्रतिमाओ के विषय में कोई निर्णय करने के झमेले में हम क्यो पड़ें। आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि मनुष्य को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाय और बस। यदि ग्रीक को फिडियस की कला, मिस्र-निवासी को पशु-पूजा, किसी को आग एव किसी को नदी ही ईश्वर का स्मरण कराती है तो उनको इस भिन्नता से नाराज होने का क्या जरूरत। "आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि वे भगवान् को जानें, उसमें अनुरक्त हो और उसको कभी न भूलें।"* कितने सत्य, उदार एव कोमल शब्द हैं पर उत्साहहीन, दुराहग्रह एव साम्प्रदायिक प्रवचना की ही बातें सुनते रहने के अभ्यासी हमारे कानो मे ये कुछ खटकते-से है। यदि हम प्रतिमा की लाक्षणिकता को भुला दें और रूपक को अक्षरश सत्य मान लें तो हमारे जिज्ञास्य परमात्मा का ठीक उलटा रूप हमारे सामने आयेगा। विचारशील भारतवासी यह कभी नही भूलता कि मूर्ति-पूजा केवल साधन है। योगी भगवान् का दर्शन आत्मा में करता है, प्रतिमाओ में नही।†

* पृष्ठ १३६-१३७

† शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिन

निम्नकोटि की उपासना को आवश्यक मानकर, उसी प्रकार जैसे शिशुओ के लिए दूध एव प्रौढो के लिए मास-भोजन की व्यवस्था की जाती है, हिन्दू-धर्म ने एक ऐसे धार्मिक वातावरण का विकास किया है जिसमें एक ओर सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान पाया जाता है और दूसरी ओर प्रतीकोपासना का वह विधान जिसको केन्द्र मानकर महान् कलापूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि की गई है। उसमें भिन्न-भिन्न सा कृतिक विकास एव धार्मिक ज्ञान से युक्त मनुष्यो को सभी श्रेणियो के लिए स्थान है। हिन्दू-घर में उपासना के विशुद्धतम रूप के साथ ही बालको के लिए सामान्य बाह्य साधना का प्रबन्ध भी है। प्रौढ हो जाने से यदि हमें खिलौनो की जरूरत नही रह गई तो इसी लिए खिलौने तोडकर बच्चो का जी दुखाने में बुद्धिमानी नही।

भावुक पुरुष ईश्वर को पूर्ण सौन्दर्य अथवा प्रेम मानते है तथा उसके साहचर्यजनित आनन्द में डूब जाने की कामना करते है। प्रेम तथा सौन्दर्य रूपी भगवान् के प्रतीक कृष्ण है एव सहृदय भावुक पुरुषो, विशेषत स्त्रियो, के लिए उनमें प्रबल आकर्षण है। एक हृदय-स्पर्शी लोक गीत है—"उनकी वशी बुला रही है, मुझे जाना ही होगा। यद्यपि गहन कटकाकीर्ण बन में होकर जाना है फिर भी मै अवश्य जाऊँगी।" जब अनुल्लघ्य आज्ञा मिलती है तो कोई भी सहृदय व्यक्ति कैसे उसकी अवहेलना कर सकता है। सौन्दर्यप्रेमी को प्रबल भावुकता में ही पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो जाता है। सौन्दर्य का अस्तित्व ही सौन्दर्य का समर्थन है। भक्त तो भगवान् के चरणो में लोट जाता है और ससार का कोई आकर्षण उसे वहाँ से हटाने की क्षमता नही रखता। तुकाराम कहते है—"मैने तुम्हारे चरणो को पकड़ लिया है, अब मै उन्हें छोडूगा नही········मै तुम्हे नही छोडूगा,

चाहे तुम सारा संसार ही मुझे बदले में क्यों न दे दो।" चैतन्य का कहना है—"मैं धन नहीं माँगता, जन नहीं माँगता, सुन्दर स्त्रियाँ अथवा काव्य-प्रतिभा नहीं माँगता। हे संसार के प्रभो! मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि प्रत्येक जन्म में मैं तुम्हारी भक्ति पाता रहूँ।" हिन्दू-दार्शनिकों ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि निर्मल चरित्र का अभ्यास एवं सत्य-प्रेम धार्मिक भक्ति से दब न जायें। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि हमारी भावनाएँ शेष जीवन से अलग अन्य अपेक्षा-रहित नहीं हो सकती। अलग से देखने पर उनका कोई नैतिक महत्त्व नहीं। किसी भी भावना का महत्त्व तो उसकी मूल प्रेरणा पर निर्भर करता है, हमें यह देखना होता है कि वह उच्च आध्यात्मिक भक्ति का फल है अथवा नीच विषय-वासना का परिणाम। भक्ति-मार्ग का यह सिद्धान्त नहीं है कि सभी भावनाएँ पवित्र होती हैं। सच्ची धार्मिक भक्ति तो उस विवेकजात विनम्रता को कहते हैं जो सब कुछ ईश्वर के सहारे छोड़ देने पर उत्पन्न होती है। ज्ञान सूचक इस भावना के फल-स्वरूप भक्त मानव सेवा में जीवन उत्सर्ग कर देता है। उपासना, संगीत एवं कला भक्ति के विकासक हैं।

कर्मयोगी कर्म अथवा स्वकर्तव्य पालन करके तथा यज्ञ अथवा समाज-सेवा करके मोक्ष लाभ करने का प्रयास करता है। स्वतंत्रता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, आत्म ज्ञान के अवरुद्ध होने से बन्धन उत्पन्न होते हैं। जब हम अपनी दासता को ही प्यार करने लगें तो समझना चाहिए कि हमारी दासता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है। शेष संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाली स्वार्थ-प्राचीर को यदि हम तोड़ सकें तथा उदात्त आदर्श को अपना सकें तो हम क्रमश उस प्रेम का विकास कर सकते हैं जो भय, घृणा एवं कटुता का विनाश

करता है। यत्र की तरह नीति-धर्म का पालन करनेमात्र से हम अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकते। उस नीति को ईश्वरानुभूति का पुष्टिकर भोजन देकर सशक्त बनाना होगा। तभी हमें इस बात का अनुभव होगा कि प्रत्येक मनुष्य में केन्द्रीय सूर्य के अमर प्रकाश की किरण विद्यमान है। जब हम किसी व्यक्ति से प्रेम करते है तो परमात्मतत्त्व में अपनी तथा उसकी एकता का ज्ञान हमें होता है और उसी ज्ञान को अपने जीवन में हम क्रियात्मक रूप देते है। अब हम हिन्दू-धर्म की दूसरी विशेषता उसकी नैतिकता की ओर आते है।

नैतिकता नैतिक आचरण का—सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का—उद्देश्य यह है कि उसे अपनी शक्तियो का पता चल जाय एव अतीत के बन्धन तथा भविष्य के भयो से मुक्त होकर वह आत्म-विश्वास की दृढता से खडा रह सके। ऐहिक जीवन का प्रत्येक क्षण मधुर प्रेम की भावना तथा ईश्वर के चिर सम्बन्ध की आनन्ददायिनी चेतना मे बिताना ही नैतिक आचरण है। आदर्श पुरुष सदैव स्वर्गीय प्रकाश मे जीवन-यापन करता है एव सत्य, शुचिता, प्रेम तथा आत्म-विसर्जन के महान् गुण उसके जीवन में मूर्तरूप धारण करते है। प्राकृतिक शक्तियो पर मनुष्य की विजय से नही वरन् वासनाओं के निरोध से ही उसकी नैतिक उन्नति को जाँचना चाहिए। गोलियो की बौछार मे भी सच बोलना, शूली पर चढा दिये जाने पर भी प्रतिहिंसा से विरत होना, मनुष्य तथा पशु सभी का सम्मान करना, सर्वस्व दान कर देना, परोपकार में जीवन उत्सर्ग कर देना, अत्याचार को अविचलित भाव से सहन करना आदि मनुष्य के प्रधान कर्तव्य है। हमारे आधुनिक व्यावहारिक सुधार भले ही उन्हे यह कहकर उड़ा दें कि वे ऊँची बातें है और मनुष्य-प्रकृति के दैनिक उपयोग के

अयोग्य हैं, बुद्धिहीन भारतीयो अथवा 'गैलीली' के धीवरो को सन्तोष देने के लिए वे प्रशमनीय आदर्श हो सकते हैं, पर उनको व्यावहारिक रूप देना असम्भव है। हिन्दू-दार्शनिक जानते थे कि सामान्य लोक-प्रकृति एव नैतिक आदर्श में महान् अन्तर है, अतएव उन्होने शिक्षा एव अभ्यास की एक ऐसी व्यवस्था बना दी जो मनुष्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तैयार कर सके। सस्थाओ एव सस्कारो का जाल, जो लोगो के चरित्र एव नैतिक भावनाओ को विकसित करता है, 'धर्म' कहलाता है और वह हिन्दू-धर्म का एक विशेष अग है। हिन्दू धर्म किसी को बलपूर्वक किसी मत विशेष में दीक्षित करने में विश्वास नही करता, पर सभी हिदुओ के व्यवस्था मानकर चलने पर अवश्य जोर देता है। उसे धर्म की अपेक्षा सस्कृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। "यदि तुम 'धर्म' का पालन करोगे तो तुम्हें सिद्धान्त अथवा सत्य का ज्ञान स्वत हो जायगा।" यह 'धर्म' प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित मृतप्राय अग्नि को प्रज्वलित करने में सहायक होता है।

लोक-हृदय से अनुमोदित आचार-शास्त्र ही वह 'धर्म' है। किसी व्यक्ति विशेष का मन इसका विधान नही करता, अत यह वैयक्तिक नही कहा जा सकता, क़ानून इसे मानने को विवश नही करता, अत यह बाह्य भी नही कहला सकता। यह तो वह आचार व्यवस्था है जिसका अनुमोदन लोकमत अथवा जनसाधारण का हृदय करता है। जर्मन इसे Sittlichkeit कहते हैं। 'फिक्टे' ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—"आचरण-सम्बन्धी वे नियम, जो लोगो के पारस्परिक व्यवहार को नियन्त्रित करते है एव जो हमारी सस्कृति की वर्तमान दशा में आदत अथवा दूसरी प्रकृति है, इसी-

लिए हमारे अचेतन मस्तिष्क का अग बन गये है।" 'धर्म' किसी को भी सदाचारी बनने को विवश नही करता, वह तो मनुष्यो को सदाचार-पालन का अभ्यास कराता है। वह अटल यात्रिक नियमो का सग्रह नही है प्रत्युत् जीवधारी के सदृश है एव समाज के विकास से प्रभावित होकर स्वय भी बढता चलता है। भारतवर्ष मे तो राज्य भी धर्म का सेवक होता था। वह भी धर्म का अतिक्रमण नही कर सकता था। उसका काम धर्म को बदलना अथवा रद्द करना नही था, वरन् उसके पालन की व्यवस्था करना था। राज-धर्म किसी दशा में भी लोगो की जीवनचर्या में अनुचित हस्तक्षेप नही करता था। चार हजार वर्ष से भी अधिक हो गये जब से भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायो तथा वशो के पारस्परिक युद्ध एवं राज-नीतिक कलह के बावजूद भी हमारा 'धर्म' अथवा सामाजिक जीवन उन्ही सिद्धान्तो को मानकर चलता आ रहा है। यदि हम भारतीय जीवन की सप्राण अविच्छिन्न धारा देखना चाहते है तो उसका दर्शन हमें उसके राजनीतिक इतिहास में नही वरन् उसके सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन में ही मिल सकता है। राजनीतिमयता का रोग तो उसे प्लासी के युद्ध के बाद ही लगा है। आज सम्पूर्ण जीवन राजनीति से ओत-प्रोत है। राज्य का समाज पर आक्रमण आरम्भ हो गया है और रवीन्द्रनाथ के शब्दो में 'बिना राष्ट्रो का भारत' अब पाश्चात्य अर्थ में उसके समस्त गुण-दोषो को लेकर एक 'राष्ट्र' बन जाने के प्रयास में सलग्न है।

'धर्म' के दो रूप होते है—एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। ये दोनो ही अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति की धर्म-भावना को एक पथ-दर्शक चाहिए एव उसे यह सिखाने की आवश्यकता है कि उसका

उद्देश्य क्या है तथा किस प्रकार उसे इन्द्रियों का जीवन त्यागकर आध्यात्मिक जीवन पसन्द करना चाहिए। समाज के हित का भी समानरूप से ध्यान रखना है। सब प्राणियों को एक सामञ्जस्य-सूत्र में बाँध रखनेवाली शक्ति धर्म कहलाती है।* सामाजिक कल्याण का विधान करनेवाला आचरण ही पुण्य है, इसके प्रतिकूल आचरण को पाप कहते हैं। प्राय जोर देकर कहा जाता है कि सबसे बड़ा पुण्य कर्म दूसरों के साथ वही व्यवहार करने में है जिस व्यवहार की आशा हम दूसरों से अपने लिए करते हैं। नित्य कर्मों में सामाजिक तथा वैयक्तिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों का समावेश कर लिया गया है। नित्य कर्म निम्नलिखित हैं—शौचम् (शुद्धता), आचरम् (शिष्टाचार), पच महायज्ञ (समाज-सेवा) तथा सन्ध्या-वन्दनम् (सन्ध्या तथा उपासना)। वैयक्तिक जीवन के अवस्था-विभाग एव सामाजिक वर्गों के नियामक वर्णाश्रम धर्म में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। व्यक्ति का लक्ष्य सांसारिक सुख-प्राप्ति उतनी नहीं है जितनी आदर्श की प्राप्ति अपने उद्देश्य की सिद्ध है। इसकी प्राप्ति व्यक्ति की उस शिक्षा से ही सम्भव है जिसके लिए कष्ट उठाना होगा तथा सयम का पालन करना होगा। प्रत्येक मनुष्य की आयु को चार आश्रमों में बाँट दिया गया है। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है। इस आश्रम में सयम, धैर्य, ब्रह्मचर्य तथा लोक-सेवा की भावनाएँ बालकों में परिपुष्ट कर दी जाती है। इस नियम का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है, वह चाहे जिस वर्ग का हो, चाहे धनी हो चाहे निर्धन। दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में आने

* धारणाद धर्ममित्याहु धर्मेण वद्धिता प्रजा

पर गृहस्थ-धर्म का पालन करना होता है। अब वह व्यक्ति किसी सामाजिक सस्था का सदस्य बनता है एव उस सस्था के अधिकार तथा कर्तव्य उसे स्वीकार करने पडते है। अपने सहचरो के साथ जिस बन्धन में हमें बँधना होता है उसके परिणामस्वरूप मानव-प्रकृति की कुछ मधुरतम आदतो का विकास होता है। इस समय आत्म-निर्भरता मितव्ययिता एव अतिथि-सत्कार का अभ्यास करना होता है। गृहस्थ का सम्मान सबसे अधिक होता है क्योकि वही शेष तीन आश्रमो का आश्रयदाता है। वर्ण-नियम इसी आश्रम के लिए मान्य है। तीसरा आश्रम वाणप्रस्थ कहलाता है। इस समय व्यक्ति को सासारिक सम्पत्ति से विरक्त होना पडता है, गृहस्थ-धर्म-पालन के परिणामस्वरूप जो गर्व अथवा अहकार उत्पन्न हो गया है, जैसे कुल-गर्व, धन-गर्व, बुद्धि अथवा सौभाग्य गर्व, उसका निरोध करना पडता है तथा सन्यास का अभ्यास करना पडता है। जब वह उच्च जीवन के पूर्णतः योग्य हो जाता है तो सन्यास ले लेता है। सन्यासी मनुष्य-जाति का रागरहित सेवक होता है जो आत्म-शक्ति मे ही शान्ति का अनुभव करता है। अनन्त से पूर्ण सामजस्य स्थापित हो जाता है और मनुष्य की शिक्षा का यही पर अवसान हो जाता है।

ये सन्यासी ससार को दुख-दैन्य में पडा छोड़कर अलग नही हो जाते। उनमे जो परम महान् है, जैसे बुद्ध तथा शकर, रामानुज तथा रामानन्द एव और भी अनेक, वे तो राष्ट्र के रक्त में ही प्रविष्ट हो गये है तथा उन्होने ही उसके धर्म की स्थापना की है। उनके नाम आज राष्ट्र की सबसे बड़ी पैतृक सम्पत्ति है।

वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध व्यक्तियोके सामाजिक वकर्तव्यो से है। मनुष्य का विकास तभी सम्भव है जब वह सामाजिक व्यस्था

के किसी बिन्दु विशेष पर ही अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को केन्द्रित कर दे। चूंकि मनुष्यों में मानसिक जीवन के तीन अंगों में से किसी एक की ही विशिष्टता पाई जाती है, अतः द्विजों को तीन भागों में बांट दिया गया है—विचार-प्रधान, भाव-प्रधान एवं क्रिया-प्रधान। जिनमें किसी भी गुण की विशेषता नहीं वे ही शूद्र हैं। चारों वर्णों की उपमा पंडितों, सैनिकों, औद्योगिकों एवं साधारण मजदूरों से दी जा सकती है जो सब एक ही संस्था के सदस्य हैं। ऋग्वैदिक प्राचीन काल में ही पारस्परिक अनुराग में बद्ध चारों वर्णों के सूचक शिर, बाहु, कटि एवं जंघा के रूपक के द्वारा सामाजिक एकता का आदर्श व्यक्त किया जा चुका था। इस 'सम्पूर्ण' में प्रत्येक वर्ण का उचित स्थान, अधिकार तथा कर्तव्य निश्चित कर दिया गया था। कर्ममात्र सम्मानपूर्ण समझा जाता था, अतः वर्ण-गर्व अथवा ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। वर्ण, अधिकार का नहीं उत्तरदायित्व का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति में सभी गुण विद्यमान हैं, केवल भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रबलता पाई जाती है। अपने कर्तव्य का पालन करके हम केवल 'सम्पूर्ण' का ही उपकार नहीं करते प्रत्युत् आत्म-प्रकाशन भी करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट प्रकृति उसके कर्म में ही पूर्णतः विकसित होती है और वह कर्म एक विशेष अर्थ में उसका अपना धर्म, स्वधर्म है।*

हिन्दू-धर्म का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण, प्रत्येक पुरुष

* यहाँ पर हमने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था का ग्राम-शासन तथा व्यवसाय संघ पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा इस संस्था के वर्तमान भ्रष्ट रूप को भी छोड़ दिया है।

को पैगम्बर बनाना है। तभी उसको आन्तरिक स्वतन्त्रता एव आध्यात्मिक साहचर्य का आनन्द प्राप्त होता है और तभी वह स्वमेव दुष्टता का प्रतिकार तथा प्रतिहिंसा करना बन्द कर देता है और तब उसमें इतना धैर्य एव प्रेम उत्पन्न हो जाता है कि यदि कोई वार करे तो वह उसे सहन कर सके तथा यदि कोई उसे लूटना चाहे तो खुद ही वाञ्छित वस्तु को उसे अर्पण कर सके। उसका हृदय शान्ति से पूर्ण रहता है जिसका अर्थ है घृणा का एकान्त विनाश। सच्चा ब्राह्मणत्व मानव-शक्ति के उच्चतम विकास का प्रतीक है। आध्यात्मिक महत्ता के आधार पर ही समाज में वर्ण की व्यवस्था की गई है। मनुष्य के पख नही होते, अत उडकर शिखर पर जा पहुँचना उसके लिए सम्भव नही, उसे तो धीरे-धीरे कष्ट तथा प्रयास के साथ ऊपर उठने में ही सन्तुष्ट होना होगा। हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था में यही क्रमिक योजना स्वीकृत हुई है। इस बात की पुष्टि में गोरक्षा तथा अहिंसा के दो उदाहरण दूँगा। "किसी जीव की हिंसा मत करो।" यही सबसे बडा धर्म है, यही मनुष्य के योग्य धर्म है। प्रत्येक ब्राह्मण के लिए इसका पालन करना अनिवार्य है फिर भी इस व्यवस्था मे क्षत्रियो का विधान है जिनका धर्म है युद्ध में लोगो को मारना तथा स्वय लड़ते हुए मर जाना। व्यवस्था-विधायको का विचार था कि "आँख के बदले मे आँख एव दाँत के बदले में दाँत" लेने की भावना मानव-प्रकृति का अटल गुण है। उसका निवारण एकाएक नही किया जा सकता। जहाँ अनाचार को स्वीकार करना अनुचित है एव प्रेम के द्वारा उसका प्रतिकार सम्भव नही, वहाँ बलपूर्वक उसका विरोध करना विहित है एव क्षत्रियोसे कहा गया है कि शत्रुओ का दमन करना तुम्हारा

कर्तव्य है। फिर भी यह अधिकार तो मानव-प्रकृति पर दया करके ही दिया गया है तथा क्षत्रियो को बता दिया गया है कि ब्राह्मणो का प्रेम धर्म उनके हिंसा-धर्म से श्रेष्ठ है। क्षत्रिय विकास की निम्न श्रेणी का द्योतक है क्योकि वह मनुष्य को केवल मास का पिंड मानता है, उसमें भगवान् की ज्योति नही देखता। उसे घृणारहित भ्रातृभाव से कर्तव्य समझकर ही युद्ध करने की आज्ञा है, प्रतिहिंसा की भावना से नही—इस विचार से नही कि इसने हमें दुख दिया है, अत हम भी इसे दुख देंगे। यदि क्षत्रिय इस प्रकार मानव-हित का ध्यान रखकर अपना कर्तव्य करे तो उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी और धीरे-धीरे पशुबल पर आश्रित रहना कम करता हुआ वह अन्ततोगत्वा ससार में किसी भी जीव की हिंसा न करनेवाला ब्राह्मण बन जायगा। हिंसापूर्ण युद्ध की आज्ञा दी अवश्य गई है, पर चरम लक्ष्य तो उसका अतिक्रमण कर जाना ही है। प्रकृति की धारा के साथ बहने का उद्देश्य उसे पार कर जाना है।

अहिंसा धर्म का विधान पशु-पक्षियो के लिए भी है। हेतुशास्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ यह भी है कि हमें निरामिष भोजन ही करना चाहिए। पशु-पक्षियो की सृष्टि भी ईश्वर ने ही की है, अतएव उनके प्रति भी हमें सदय होना चाहिए। गाय पशु-जगत् की प्रतीक है। धार्मिक हिन्दू नित्य भगवान् से प्रार्थना करता है कि गो-ब्राह्मण की रक्षा हो, गो-ब्राह्मण जो क्रमश पशु एव मानव जगत् के शारीरिक एव आध्यात्मिक पोषको के प्रतीक है। गाधीजी ने लिखा है—"गाय के देवत्व-प्रदान का कारण तो स्पष्ट है। भारतवर्ष में मनुष्य की सबसे बडी मित्र गाय ही थी। उससे ही समृद्धि की प्राप्ति होती थी। गाय एक करुण काव्य है······ 'वह करोडो

भारतवासियो की माता है। गो-रक्षा का अर्थ समस्त मूक सृष्टि की रक्षा है"।* भारतवर्ष में कुछ ऐसे लोग भी थे जो पशुओ पर जरा भी दया नही दिखाते थे। उनकी आदत में सुधार करना पड़ा था। मास-त्यागी तथा खेल अथवा भोजन के लिए भी किसी पशु की हिसा न करनेवाले ब्राह्मण का आदर्श लोक-चरित्र की उन्नति में काफी सहायक सिद्ध हुआ है। क्षत्रिय तथा वैश्य मुख्यत शाकाहारी है। उत्सव तथा पर्व के दिन शूद्र भी मास-भक्षण नही करते। इस प्रकार शाकाहार-प्रवृत्ति निश्चितरूप से बढ रही है। पशुओ पर बिलकुल ही दया न करनेवाले केवल 'पचम' वर्णी ही है जिन पर हिन्दू-धर्म का प्रभाव रचमात्र भी पडा नही दिखाई पडता।

हिन्दू-धर्म पर यह लाछन लगाना कि उसने दलित वर्गों के मानसिक एव चारित्रिक विकास के लिए कुछ भी नही किया, प्रगट करता है कि हिन्दू-धर्म ने भारत में जो कुछ किया है उसके सम्बन्ध में हम बिल्कुल ही अज्ञ है। बौद्ध एव ईसाई धर्म की इतनी शताब्दियो के पश्चात् भी आज जब एक सभ्य जाति किसी असभ्य जाति के सम्पर्क मे आती है तो वह उस असस्कृत जाति की मनोवृत्ति को समझने का प्रयास नही करती, केवल क्रूर उपायो के द्वारा विजय प्राप्तकर उन्हे अपने अधीन बना लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि यदि उस असभ्य जाति के पास रोने को आँखें बच रही तो वह दिन-रात रो-रो कर भगवान् को अभिशप्त किया करती है कि क्यो उसने इन सस्कारको को उनके देश मे भेजा। भारत के आर्यो ने यहाँ के मूल निवासियो को भी अपना अग बना लिया तथा मलिनता

* नवजीवन—६ अक्टूबर, १९२१

एव मदिरापान की आदत छुडाने में, पवित्र जीवन विताने एव परमात्मा की भक्ति करने में उनकी प्रचुर सहायता की। यह देख कर कि यहाँ के मूल निवासी नागो की पूजा करते है, आर्यो ने उनसे कहा कि नागदेव से भी महान् नागेश्वर है, वह नागो का स्वामी कृष्ण है जो कालिय नाग के मस्तक पर नृत्य कर रहा है। समाज को शीघ्रतापूर्वक उच्च आचार की ओर ले जाकर, जो आन्तरिक प्रेरणा के विना असम्भव है, उन्होने कोई ऐसा काम नही किया जिसके लिए वे इतिहास के प्रति हिंसा-भाजन वनें। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा क्रमिक सभ्यता-विकरण का कार्य मुसलमानो के आने से पहले तक चलता रहा। भारत-जैसे विशाल देश में, जहाँ यातायात की कोई विशेष सुविधा भी नही थी, जो कुछ भी सफलता मिली वह वास्तव में महान् है। जेम्स केनेडी लिखते है—"इन आदिम निवासियो अथवा अन्त्यजो को हिन्दू-धर्म में दीक्षित करके उन्हे पचा जाने का भार नवीन हिन्दू-धर्म पर पडा और ईसा की ७ वी तथा ११ वी शताब्दी के मध्य में यह काम पूरा हो गया। यह काम इतनी कुशलता से किया गया कि आज हम समस्त उत्तरी भारत में रक्त, संस्कृति एव धर्म की दृष्टि से बहुत कुछ एक ही प्रकार की जनता को निवास करते देखते है जो अपनी सीमा के उस पार निवास करनेवाली नीच जातियो से भली भाँति पहचानी जा सकती है।"* हिन्दू-समाज में विदेशी बराबर आते रहे तथा हिन्दू-धर्म इन भिन्न प्रकृति के लोगो में उच्च जीवन की स्फूर्ति उत्पन्न करने में बराबर सफल रहा है। अगर यह सस्कार-कर्म न चलता रहता तो

* इम्पीरियल गजटियर—भाग २, अध्याय ८

आज भारत में पाच करोड अछूतो के स्थान मे २५ करोड अछूत होते। हिन्दुओ की राजनीतिक पराधीनता के कारण यह काम कुछ मन्द पड़ गया है। तभी से हिन्दू-समाज अनुदार रूढिवादी बन गया है और भारत-निवासियो का एक वहुत बडा भाग समाज से दूर जा पडा है। दूसरे सम्प्रदाय इस दुर्बलता से लाभ उठाकर उसकी काफी हानि कर रहे है।

परम्परा. सभी हिन्दू वेदो को सर्वोपरि धार्मिक प्रमाण स्वीकार करते है। उनमें जीवन तथा विश्व के तत्त्व का निरूपण है। वेदो का प्रधान अग उपनिषद् है जो उस स्वतंत्र आध्यात्मिक प्रगति का परिणाम है जिसने अज्ञातरूप से वेदो के अपरिष्कृत अशो को दबा दिया। हिन्दू-धर्म का परवर्ती इतिहास इसी औपनिषदिक सुदृढ़ आधार पर निर्मित एक भव्य भवन का इतिहास है। यद्यपि धार्मिक विचारो ने अनेक क्रान्तियाँ की, अनेक वार महान् विजयें प्राप्त की फिर भी लगभग पाच हजार वर्षो से उसके मुख्य सिद्धान्त उसी रूप में चले आ रहे है। जब-जब दुराग्रह के विकास ने धर्म को सकीर्ण साम्प्रदायिकता में अवरुद्ध कर दिया है तब-तब सच्चे महात्माओ ने जन्म लेकर आध्यात्मिक नव जागरण का उपदेश दिया है। उपनिषदो का प्रवाह जब दुराग्रहपूर्ण विवाद में लुप्त हो गया, जब शुष्क शास्त्रार्थ के ज्वर ने धार्मिक चेतना को वेसुध कर दिया, तब भगवान् बुद्ध ने सत्य की सरलता एव आचरण की विशुद्धता पर जोर दिया। जब शास्त्रीय सस्कृति एव निरर्थक पाण्डित्य ने धर्म को अमानुषिक शास्त्रवाद बनाकर इस दुर्बोध व्यर्थता में निष्णात् पण्डितो को हास्यास्पद अहकार से भर दिया था, सम्भवत. तभी, यद्यपि देश के दूसरे भाग में, गीताकार ने सभी पवित्र-हृदय

मनुष्यो के लिए स्वर्ग-द्वार उन्मुक्त कर दिया। भारतीय धर्म का जो सस्कार शकर ने किया था वह अब भी सर्वथा शक्तिहीन नही हुआ है। रामानुज तथा माधव, कबीर तथा नानक हिन्दू-धर्म पर अमिट छाप छोड गये है। यह स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्म एक प्रणाली है, परिणाम नही, एक वर्द्धमान परम्परा है, अटल दिव्य-प्रकाशन नही। किसी ओर से भी आनेवाले ज्ञान पर इसने कोई प्रतिबन्ध नही लगाया क्योकि आत्म-राज्य में मेरे और तेरे का भेद नहीं है।

२

हिन्दू-धर्म

आर्यों के भारत में प्रवेश करने के दिन से आज तक गम्भीर जातीय एव धार्मिक विप्लवो का निरन्तर सामना करते रहने का गौरव अथवा दुर्भाग्य भारत का सदा ही रहा है। एक विशेष अर्थ मे भारतवर्ष ससार का एक छोटा सस्करण है। वह एक प्रयोगशाला है जहाँ ससार की समस्याओ से सम्बन्धित जातीय अथवा धार्मिक सश्लेषण के प्रयोग किये जाते है। यदि यह ठीक है कि प्रत्येक जाति की एक विशेषता होती है और वह ईश्वराभिव्यक्ति के किसी विशेष रूप को ही हमारे सम्मुख उपस्थित करती है, तो मालूम होता है जातीय एव धार्मिक सघर्षों का समाधान करने के लिए ही भारत चुना गया है।

हिन्दू-धर्म की प्रचण्ड तरगो तथा शान्त जल-राशि के लम्बे इतिहास में इस सरिता की वक्र गतियो एव विस्तृत बालुकापूर्ण तटो मे एक सामान्य वृत्ति को, एक आध्यात्मिक उद्देश्य को खोज लेना सम्भव है जो नित्य परिवर्तनशील रूपो के भीतर भी स्थिर रहा,

है। प्राचीन हिन्दू-धर्म के मुख्य सिद्धान्त मृत सीप नही है प्रत्युत् जीवित शक्तियाँ है जो सामर्थ्य एव लाक्षणिकता से पूर्ण है। यदि ऐसा न भी हो तो भी उस हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तो को समझना मनोरजन से खाली नही है, जिसके माननेवाले इस समय बीस करोड है।

'धर्म' शब्द का अर्थ काफी जटिल है। यह उन सभी आदर्शों तथा उद्देश्यो को, प्रभावो तथा सस्थाओ को व्यक्त करता है जो मनुष्य के व्यक्तिगत एव सामाजिक चरित्र का निर्माण करते है। यह उस आचार-शास्त्र का नाम है जिसके पालन से ऐहिक सुख तथा मोक्ष दोनो की ही प्राप्ति होती है।* यह आचारशास्त्र तथा धर्म दोनो का समुच्चय है। 'धर्म' नियमो मे हिन्दू-जीवन पूर्णत. नियन्त्रित है। उसके उपवास तथा उत्सव, उसके पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धन, उनकी रुचि तथा स्वभाव सबका मूलाधार धर्म ही है।

मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष है। आत्म-शिखर पर चढकर अमरत्व लाभ करना मनुष्य के लिए निश्चित है। हम देव-सन्तान—अमृतस्य पुत्रा—है। मानव-हृदय का अमर स्वप्न जीव की आत्मज्ञान के लिए तीव्र उत्कण्ठा ही हिन्दू-धर्म का आधार है। वह मानता है कि आत्मा ही अन्तिम सत्य है। हृदय की सब कामनायें, न्याय के सारे विवाद, आत्मा के अस्तित्व को मानकर ही चलते है। इसे तर्क के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, यद्यपि इसके बिना प्रमाण की ही सम्भावना नही हो सकती। यह केवल श्रद्धा का भी विषय नही है क्योंकि यह वही श्रद्धा है जो तर्क का भी मूल है। यदि

* अभ्युदय तथा निश्रेयस

मनुष्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी सन्देह सम्भव है तो सन्देह ही ससार से मिट जायगा। यदि कुछ भी है तो आत्मा भी है। यह वह चरम सत्य है जो परिवर्तन से परे है, वह अदृष्ट वास्तविकता है जो समस्त जीवन एव तर्क का आधार है। यह वह रहस्य है जो अज्ञात रहकर ही अपने को व्यक्त करता है। 'हम है' यह एक ऐसा सत्य है जिसकी तुलना में हमारे विचारो का कोई महत्त्व नही। मनुष्य की वे दुर्बलताएँ ही, जो उसके मार्ग में बाधक होती है उसके भय का कारण बनती है, वह अन्धकार है जो अन्तर के प्रकाश को छिपाये है। यदि हम अपने जीवन के एकमात्र निश्चित विन्दु अपनी आत्मा की शरण में पहुँच जायँ तो हम अनुभव करेंगे कि ससाररूपी अन्तहीन प्रतीत होनेवाले पथ मे हम अकेले नही है और तब हम ससार पर विजय पा सकते है तथा मृत्यु को ललकार सकते है। "जो तुम्हारे भीतर है, वह उससे बडा है जो ससार में है।"*

यद्यपि सम्पूर्ण प्रयत्न का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक पूर्णता है, पर हिन्दू-धर्म किसी भी धार्मिक विश्वास अथवा उपासना के स्वरूप पर जोर नही देता। भगवान् की प्रार्थना करने अथवा उस तक पहुँचने के मार्ग-चयन में लोगो को पूर्ण स्वतन्त्रता है। हिन्दू-विद्वान् मानव-जाति-विज्ञान तथा दर्शन के पण्डित थे, अतएव उन्होने धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में कभी बल-प्रयोग नही करना चाहा। धर्म-सम्बन्धी शत्रु अथवा मनोमालिन्य तभी शुरू होता है जब हम ईश्वर-सम्बन्धी अपनी कल्पना को विशेष महत्त्व देने लगते है।

* जान ५. २१

इसके अतिरिक्त धर्म स्वतन्त्रता का समर्थक है एव मनुष्य पर सबसे बडा अत्याचार यही है कि हम उसे समझ में न आनेवाली बात में विश्वास करने को विवश करें। दूसरे, व्यक्ति तथा ईश्वर के सम्बन्ध का वर्गीकरण बहुत कठिन है। मनुष्य का हृदय अपने रक्त से अपनी भक्ति-पद्धति का रूप अकित करता है। एक सस्कृत का श्लोक है—"जिस प्रकार पक्षी आकाश में उडते समय और मछलियाँ समुद्र में तैरते समय अपने पीछे कोई चिह्न नही छोडती, वही दशा भगवद्भक्त की है।" ईसा ने दिव्य जीवन के रहस्य के सीमित मानव-हृदय में व्यक्त होने की बात कही थी—"हवा जहाँ चाहती है, जाती है, तुम उसका शब्द तो सुनते हो पर यह नही बता सकते कि वह कहाँ से आई है और किधर जायगी, ठीक यही हाल भगवान् के भक्तो का है।" ईश्वर अपने को कभी तो बिजली की चमक में और कभी हृदय के स्पन्दन में प्रगट करता है। जो हिन्दू अपने धर्म के भाव को समझता है वह सभी धर्मो का सम्मान करता है। बोलपुर में रवीन्द्र नाथ के स्कूल में एक निराकार परमात्मा की उपासना की जाती है, पर दूसरे मतो की निन्दा करने का वहाँ निषेध है। धर्म के मामले में महात्माजी बहुत उदार है। ब्राह्मण-दार्शनिको का अन्य धर्मो के प्रति क्या भाव है यह बताते हुए विलसन लिखता है—"वारेन हेस्टिग्स की आज्ञा से हिन्दू-विधान-सहिता का सकलन करने वाले पण्डित अपने काम का आरम्भ इस भूमिका से करते है कि सब प्रकार की धार्मिक पूजा से समान पुण्य की प्राप्ति होती है। वे कहते है कि विरोधी विश्वास एव धार्मिक वैषम्य इस विश्व-योजना के अग है क्योकि जैसे चित्रकार किसी चित्र को सुन्दर बनाने के लिए

उसमें भाँति-भाँति के रग भरता है, अथवा माली विविध प्रकार के पुष्पो से वाटिका को सजाता है, वैसे ही ईश्वर ने प्रत्येक जन-समुदाय के लिए विशिष्ट धर्म नियत कर दिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी पद्धति से उसका यशोगान कर सके और चूंकि सबका उद्देश्य एक ही है अतएव भगवान् को वे सब एक समान प्रिय है।"*

इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हिन्दू-दार्शनिको को ईश्वर का सम्यक् ज्ञान नही है तथा वे सब धर्मों को समानरूप से ठीक मानते है। उन्हे ऊँचे-से-ऊँचे सत्य का यथार्थ अनुभव है, यद्यपि वे यह नही चाहते कि सब उनके ही अनुभव को स्वीकार कर लें। उनका ख्याल है कि यदि मस्तिष्क सस्कृत है तो सत्य का प्रत्यक्ष स्वत हो जायगा। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियो के मानसिक एव सामाजिक विकास का प्रकाश होता है, इसलिए उपलब्ध मतो के स्थान में बिलकुल नये मतो को स्थापित करना धृष्टतापूर्ण है। निम्न श्रेणी के विचार बढती हुई विवेचना के सम्मुख ठहर नही सकते तथा सच्चा सुधारक मनुष्य की मानसिक एव चारित्रिक उन्नति करने का यत्न करता है। सत्य का ज्ञान धार्मिक विश्वास का परिणाम नही होता वरन् गम्भीर नैतिक आचरण का अनुभव होता है। इसीलिए हिन्दू-दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा आचार को अधिक महत्त्व देते है। हिन्दुओ के धर्म को धर्मशास्त्र न कहकर जीवन-योजना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। कोई दृढ हिन्दू है अथवा नही, यह बात इस पर इतना नही निर्भर करती कि वह किसी विशेष सिद्धान्त को मानता है अथवा नही जितना इस बात पर कि वह

* एच. एच. विल्सन—'लेख तथा व्याख्यान' भाग २, पृष्ठ ८

'धर्म' को मानकर चलता है कि नही।*

ईश्वर के अस्तित्व में दृढ विश्वास होने से जो आचरण स्वभावत होने लगता है, धर्म उसी को जीवन का आदर्श बनाने की आज्ञा देता है। यदि सबसे बडा सत्य यही है कि ईश्वर मनुष्य के हृदय में निवास करता है तो इस विश्वास को कार्यान्वित करने वाला आचरण ही आदर्श आचरण होगा। भिन्न-भिन्न सद्गुण सत्य के ही विभिन्न रूप (सत्याकारा) है।† सत्य, सौन्दर्य एव शील आदर्श पुरुष के जीवन के लक्षण है, उसका आवश्यक अग है। वह आत्मत्याग, विनम्रता, वात्सल्य एव पवित्रता आदि सद्गुणो का व्यक्त स्वरूप ही होगा। वासना पर आत्मा की विजय होने से घृणा के मेघ एव विषय की कुज्झटिका विनष्ट हो जाती है और उसका हृदय शान्ति से भर उठता है और तब महान् सकट के अवसरो पर, व्यक्तिगत हानि अथवा सामाजिक सकट में भी वह विचलित नही होता। शान्त चित्त, दृढ निश्चय तथा प्रमादरहित दृष्टि से वह समयोचित व्यवहार किया करता है। वह किसी एक देश का नही प्रत्युत् सच्चे अर्थ में ससार का नागरिक बन जाता है। शक्ति की इच्छा एव अहकार उत्पन्न करनेवाले रजोगुण तथा आलस्य एव निष्क्रियताजनक तमोगुण पर आनन्द एव प्रेम व्यजक सत्त्वगुण का प्राधान्य हो जाता है। महात्मा के लिए धर्म अन्तर्प्रेरणा बन जाता है, दूसरो के लिए वह बाह्य-नियन्त्रण है, सामाजिक रीति अथवा लोक-मत का अनुरोध है।

* मनुस्मृति २. २

† देखो महाभारत—अनुशासन पर्व १६२ तथा शान्ति पर्व ३३

जो आदर्श हमे क्रोध एवं मोह से बचने को कहता है, मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र बनने को कहता है, वह पाप एव दु ख से पूर्ण जीवन के थपेड़ो से व्यग्र मानव के लिए असम्भव आदर्श है। वह जीवन से ऐसी चीज़ माँगता है जिसका देना जीवन के लिए सम्भव नही। वह जीवन के समस्त आधारो को नष्ट कर देना चाहता है। यदि मोक्ष के लिए सर्वस्व-त्याग आवश्यक है तो बहुत-से लोग मोक्ष के विचार को ही त्याग देंगे। ससार का कुछ ऐसा नियम है कि जो आध्यात्मिक मर्यादा का पालन करना चाहते है, उनके सफलता मिलने की आशा बहुत कम ही होती है। हम सभी जानते है कि 'पर्वत के उपदेश' को किस प्रकार असम्भव आदर्श कहकर उड़ा दिया जाता है। हम हमेशा एक गाल पर थप्पड़ खाकर मारनेवाले की ओर दूसरा गाल दूसरा थप्पड खाने के लिए नही फेर सकते, जब हमारा अनुभव है कि दोनो गालो पर चपत लगाने की इच्छा मे प्रबल आकर्षण है। कष्टो में भी आनन्द का अनुभव करना दिव्य गुण हो सकता है, पर मनुष्य तो बडा दुर्बल प्राणी है। ईसाई-ससार तो यह कहकर सतोष कर लेता है कि ईसा भी एक-आध बार दु.ख से व्याकुल हो उठे थे--"हे पिता! यदि सम्भव हो तो इस विष के प्याले को हटा लो।" "हे भगवान्! आपने हमारी सुध क्यो बिसार दी?" वे लोग, जिन्हें अपनी व्यावहारिकता पर गर्व है, आदर्श को सामान्य मानव-स्वभाव का रूप दे देना चाहते है, उसे प्रभुता एव लोभ, वासना तथा पाप के अधीन बना देना चाहते है। आधुनिक सासारिक सुधारक कहता है—"तुमने प्राचीन उपदेशको को यह कहते सुना है कि 'हिसा मत करो' पर मै तुमसे कहता हूँ कि भोजन के लिए पशु, शिकार के लिए पक्षी तथा युद्ध में मनुष्यो को छोड़कर

तुम किसी को हिंसा न करना।' कहा गया है—'लालच न करो।' पर मेरा आदेश है कि 'तुम बडे पैमाने पर उद्योग और साम्राज्यवाद को छोडकर और कही लालच मत करना।' तुमने पुराने लोगो को यह भी कहते सुना है कि 'घृणा मत करो।' मैं तुमसे कहता हूँ कि 'तुम पिछडी हुई जातियो, अपने शत्रुओ तथा निर्बलो को छोडकर अन्य किसी से भी घृणा न करना।' उस त्यागपूर्ण धार्मिक जीवन से घबडाकर, जिसका सिद्धान्त है कि आनन्द की प्राप्ति शक्ति तथा सम्पत्ति से नही शान्ति एव प्रेम से होती है, हमारे प्रगतिशील सुधारक धर्म-नियमो में इतने अपवाद जोड देते है कि उनकी आत्मा की हत्या हो जाती है तथा हिंसा धन-राशि एव शस्त्रास्त्र प्रचुर अर्वाचीन व्यवहार को ही मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य माननेवाले सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। वे अनायास ही उस मनुष्य की कहानी को भुला देते है, जिसने अनेक वर्षों के लिए पर्याप्त अन्न सग्रह करने के लिए बडी-बडी खत्तियो के निर्माण करने की योजना तैयार की थी, किन्तु उसी रात को मृत्यु का शिकार हो जाने के कारण उस योजना को कार्यान्वित करने का अवसर ही जिसे नही मिल सका था।

हिन्दू-दार्शनिको को अच्छी तरह मालूम है कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति में, जो काफी खराब है, तथा असम्भव प्रतीत होने वाले आदर्श में बहुत बडा अन्तर है। यथार्थ तथा आदर्श के महान् अन्तर का ज्ञान उन्हें आदर्श को नीचे गिराने की प्रवृत्ति नही देता। वैसा करना उन्हे अपनी आत्मा के प्रति अक्षम्य अपराध करना प्रतीत होता है। अत वाह्यत दुर्दम जीवन-परिस्थितियो मे ही वे एक अमूल्य आदर्श-सृजन का प्रयास करते है। मनुष्य का स्वभाव तथा

उसकी नैतिक रुचि धीरे-धीरे ही बदलती है। यदि हम पूर्णता की ओर बढना चाहते है तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। कर्म विपाक सिद्धान्त के अनुसार पूर्णता तक पहुँचने के लिए लाखो योनियो में होकर जाना पडता है। विचारो को आदर्श-भूमि तक पहुँचाने के लिए अनेक कष्ट-श्रम उठाने पडते है एव बडी-बडी योजनाएँ बनानी पडती है। अपने हृदय को आनन्द से उच्छ्वसित करने के लिए असख्य हृदयो को कुचलना होता है। पवित्र भाव के उत्पादन के लिए अनेक त्यागपूर्ण प्रयासो की आवश्यकता होती है। अधिकाश लोग आध्यात्मिक शिखर पर एक-एक सीढी करके ही चढ पाते है। एक छलाग में चोटी पर पहुँचनेवाले उँगलियो पर गिने जा सकते है। वर्णाश्रम धर्म ही वह उपाय है जिसे हिन्दुओ ने क्रमिक विकास के लिए ढूंढ निकाला है। उसका उद्देश्य है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति महात्मा अथवा ऋषि बन जाय। उसके नियम भौतिक नही, आध्यात्मिक राज्य के नियम है, वे किसी राष्ट्र विशेष के नही प्रत्युत् सार्वभौमिक है। यदि धार्मिकता का अर्थ उन नियमो से है जिन्हें मानने का आदेश हमारा हृदय देता है और कानून अथवा विधान से उन नियमो को सूचित किया जाता है जिनको मानने के लिए राज्य की ओर से विवश किया जाता है तो हमारा 'धर्म' इन दोनो से परे की चीज है। यह तो वह परम्परा है जिसका अनुमोदन मनुष्यो की अगणित पीढियो के हृदय कर चुके है, जो हमारी आत्मा में सत्य की प्रतिष्ठा करती है। यह राजकीय विधान एव वैयक्तिक हृदय दोनो से ही भिन्न है। इसीलिए पारस्परिक कलह तथा साम्राज्यवादी आक्रमण भारतीय जीवन को स्पर्श भी नही कर सके तथा लगभग पचास शताब्दियो से वह उसी अविकल रूप में चला आ रहा है।

विजय के तूफान इस अविचलित जनसमुदाय के ऊपर से वैसे ही निकल गये जसे नरकुल के वन पर होकर प्रवल वायु का झोका।

मोक्ष ही वह आदर्श है जिसकी ओर मानव-जाति को अग्रसर होना है। सम्पूर्ण जीवन इसी आदर्श से जडित है। सब मनुष्य समान है क्योकि वे सब परमात्मा की सन्तान है, वे समान है क्योकि उन सभी को एक ही दिव्य गति प्राप्त करनी है। परन्तु मनुष्यो की आदर्श-प्राप्ति की योग्यता में भेद है। उन्हें भिन्न-भिन्न मात्रा में मलिनता तथा अविद्या का क्षय करना है एव अपने जीवन को प्रकाश तथा प्रेम से भरने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयास करने है। प्रत्येक व्यक्ति की सम्यक् शिक्षा के लिए वर्णो एव आश्रमो की व्यवस्था कर दी गई है। इसमें मानव-प्रकृति के विविध रूपो का ध्यान रखा गया है। मनुष्य-जीवन का मूल कर्म अथवा वासना है। मनुष्य वासनाओ का समुदाय है। मनु का कथन है--"मनुष्य को काम का--वासना का--दास नही होना चाहिए, पर अकामता तो ससार में दिखाई नही देती।"* चूंकि हमारी समस्त क्रिया वासनाजन्य होती है, अतएव इसका उचित सयम भी धर्म का अग है। फलत काम भी धर्मसगत समझा गया है। काम का अर्थ केवल पाशविक इच्छाओ की तृप्ति नही है वरन् आत्म-स्वातत्र्य का प्रकाशन है। यह तब तक सम्भव नही जब तक हम इन्द्रियो की दासता से मुक्त नही होते। मनुष्य-जीवन नाना प्रकार के इन्द्रिय-सुखो के उपभोग में ही नही समाप्त हो जाता वरन् वह तो अशाश्वत रूपोके द्वारा विकसित होने वाले एक शाश्वत तत्त्व की अभिव्यक्ति है। मनुष्य की कामनाओ को

* मनुस्मृति २ २३

पारिवारिक जीवन एव सामाजिक कर्तव्य की ओर प्रेरित कर दिया गया है। भावुक अथवा कलात्मक जीवन भी जीवन के परम-कल्याण का अग है, परन्तु सन्यास के वातावरण में कला का विकास सम्भव नही। उसके लिए अर्थ की आवश्यकता है। यदि लोगो की रचनात्मक प्रवृत्तियो को उच्च सास्कृतिक जीवन के लिए मुक्त करना है तो समाज की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करनी होगी। अत ऐसे नियम बना दिये गये है जिससे व्यक्ति के द्वारा उपार्जित अर्थ से समाज का भी हित-साधन हो। प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज की आवश्यकता से नियन्त्रित कर दी गई है। आत्म-त्याग के ही द्वारा सम्पत्ति का उपार्जन एव उपभोग सम्भव है। काम तथा अर्थ का नियन्त्रण भी धर्म ही करता है। जिनमें धर्म-भावना प्रबल होती है वे सात्विक-प्रकृति कहलाते है, अर्थ-प्रेमी राजसिक प्रकृति के होते है तथा केवल विषय-लोलुप तामसिक प्रकृतिके मनुष्यो में परिगणित है।* जो व्यक्ति 'धर्म' के नियमो का पालन करता है वह अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अतएव धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के लक्ष्य कहे जाते है।

जीवन तथा विश्व की उत्पत्ति का कुछ भी कारण क्यो न हो, नैतिक उद्देश्य की महत्ता को सभी स्वीकार करते है। हिन्दू-दर्शन के अनुसार मनुष्य का जन्म एक दिव्य उद्देश्य का परिणाम है। हमारे विगत जीवन की अतृप्त वासनाएँ ही इस जन्म का कारण है। तप के द्वारा ही हमारी दुर्बलता शक्ति में एव अविद्या ज्ञान में परिणत हो सकती है। जीवनजात पापो का क्षय तप तथा सयम के द्वारा ही किया जा सकता है। 'आश्रम' शब्द की व्युत्पत्ति जिस धातु से है उसका अर्थ

* मनुस्मृति १२. ३८

कष्ट उठाना है। बिना कष्ट के उन्नति नही हो सकती, बिना मृत्यु के पुनरुज्जीवन कैसे सम्भव हो सकता है। आदि से लेकर अन्त तक हमारा जीवन एक प्रकार की मृत्यु है जिसका अर्थ है अधिक विशाल जीवन। जितना ही हम अपने लिए मृत होते जाते है, उतना ही भगवान के निकट अधिक जीवित होते है। जीवन तथा मृत्यु में अटूट सम्बन्ध है एव पूर्ण विनाश का फल पूर्ण जीवन है। प्रत्येक हिन्दू के लिए चारो आश्रमो का विधान है। पहले दो आश्रम ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम कहलाते है। अन्तिम दोनो जीवन मे अवकाश ग्रहण करने से सम्बन्धित है तथा उनमें पहुँचकर पुरुप भगवान् तथा मानवता का सेवक बन जाता है।*

पहला आश्रम यज्ञोपवीत सस्कार से आरम्भ होता है जो आध्यात्मिक जीवन में दीक्षित होने का सूचक है। इसका उद्देश्य मनुष्य के शारीरिक एव मानसिक पुष्टता का विधान करना है। इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य स्वास्थ्य वर्द्धन एव मानसिक विकास है। छात्र को निर्मलता, ब्रह्मचर्य, शिष्टाचार एव आस्तिकता पूर्ण जीवन की शिक्षा दी जाती है। सब विद्यार्थियो को, चाहे वे राजपुत्र हो अथवा कृपक-सन्तान, दरिद्र जीवन बिताकर सामाजिक सहानुभूति का अभ्यास करना पडता है। प्रत्येक छात्र को जीवन-धारण के लिए भिक्षा माँगनी पडती है और दरिद्रता का अभ्यास विद्यार्थी को यह बुद्धि देता है कि साधु-जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक नही होती। विद्यार्थियो को स्वच्छन्द नही छोडा जाता और न उन्हें विवेकहीन धर्मान्धता के ही अधीन कर दिया जाता है। न तो उन्हें स्वकल्पना-प्रसूत प्रतिमाओ का निर्माण

* मनुस्मृति ६ ८७

करने का अधिकार रहता है और न वे अन्धविश्वास तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता के ही शिकार बनने दिये जाते हैं। सत्य-प्रेम तथा परम्परा में श्रद्धा रखने पर जोर दिया जाता है। विद्यार्थियो की क्षमता एव आवश्यकता के अनुसार ही शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। तब समस्या इतनी जटिल नही थी जैसी आज है क्योकि बालको का भावी व्यवसाय प्राय. निश्चित रहता था। शिक्षा की व्यवस्था में, वह धार्मिक हो अथवा सामान्य, बालक तथा बालिकाओ में कुछ भी भेद नही किया जाता था। केवल सह-शिक्षा को अवश्य प्रोत्साहन नही दिया जाता था।

शिक्षा-काल समाप्त होने पर विद्यार्थी को पारिवारिक उत्तर-दायित्व ग्रहण करना पडता था। पुरुष अकेला नही होता, उसके ऊपर स्त्री एव बच्चो का भी भार होता है।* वह कुटुम्ब का भरण-पोषण करनेवाला तथा समाज का आश्रयदाता बन जाता है। पारिवारिक जीवन एव सामाजिक कर्तव्य दोनो ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते है एव उनके लिए आत्म-सयम अनिवार्य है। प्रत्येक पुरुष को लोक-कल्याण की भावना से ही अपना कतव्य करना पडता है। केवल व्यक्तिगत सुख के लिए लोक-सेवा का परित्याग किसी को भी नही करना चाहिए।† हम पारस्परिक सहायता करने का वचन दे चुके है, अतएव हमें एक-दूसरे के लिए ही प्राण धारण करना चाहिए— व्यक्ति परिवार का, परिवार सम्प्रदाय का, सम्प्रदाय राष्ट्र का एव राष्ट्र ससार का हित-साधन करे। वर्ण-धर्म, जिसका उपयोग गृहस्थ आश्रम से

* मनुस्मृति १०-४५

† भगवद्गीता ३ १६

आरम्भ होता था, मनुष्यमात्र की एकता एवं अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध को मानकर ही चलता है। वह सामाजिक तथा वैयक्तिक आवश्यकता का ध्यान रखकर चलता है। वह व्यक्तित्व की रक्षा करता है क्योंकि वह अपने से श्रेष्ठ सत्ता की सेवा करके अपने को ऊपर उठा देता है। वातावरण के एक विशेष अंग पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करके वह अपना पूर्ण विकास करने का प्रयास करता है। यह हीगल के विरोधी दृश्यों के सामंजस्य का उदाहरण है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो व्यक्ति एवं समाज के विरोधी-से प्रतीत होनेवाले अधिकारों में सन्धि करा देता है। वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त अकेले व्यक्ति का कल्याण अथवा अकेले समाज का हित नहीं है किन्तु उनसे भी श्रेष्ठ उद्देश्य की कल्पना है जिसकी प्राप्ति में सतत आत्म-संस्कार एवं समाज-सेवा साधन बन जाते हैं। मानव-प्रकृति की अनेकरूपता का ध्यान रख कर वह उन प्रणालियों एवं उपायों का निर्देश करता है जिनका अनुसरण करके प्रत्येक व्यक्ति अपने को पूर्णरूपेण व्यक्त कर सकता है। वास्तविक भेदों को स्वीकार करके वह आदर्श साम्य की स्थापना करता है। वह प्राकृतिक शक्तियों से सहयोग करता है, उनकी अवहेलना नहीं करता। आधुनिक ज्ञान-मंचसे जो इस व्यवस्था की प्रतिकूल आलोचना करते हैं वे भूल जाते हैं कि किसी अन्य देश में इतने भिन्न मानसिक एवं सांस्कृतिक स्तरों के लोग एक ही समाज का अंग कभी नहीं बने। वेद-पूर्व काल के निवासी, जिनसे आर्यगण आकर मिल गये, निम्न कोटि की सभ्यता एवं संस्कृति से युक्त थे। उन्हें शुद्धि-सम्भावना-हीन 'एक जाति' कहलानेवाले चतुर्थ वर्ण में स्थान दिया गया क्योंकि उनमें मस्तिष्क, हृदय अथवा चेष्टा के किसी भी विशिष्ट गुण का विकास नहीं पाया जाता था, शुद्धि-सम्पन्न द्विजाति मस्तिष्क,

हृदय एव चेष्टा के उत्कर्ष के अनुसार तीन श्रेणियो में विभक्त कर दिये गये। जिनमें बुद्धि का विशेष उत्कर्ष पाया जाता है वे ब्राह्मण हैं; जिनमें प्रेम तथा पराक्रम का उत्कर्ष है वे क्षत्रिय है; जिनकी रुचि व्यावहारिक जीवन में ही विशेष है वे वैश्य है। ये चारो वर्ण क्रमशः बौद्धिक, सैनिक, व्यावसायिक तथा शारीरिक श्रमजीवियो के समानार्थक है। सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ससार की सेवा करते है, ब्राह्मण अपने अध्यात्म, क्षत्रिय अपने पराक्रम, वैश्य अपनी बुद्धि तथा शूद्र सेवा के द्वारा समाज का उपकार करता है।* सभी लोक-हित को वर्ग-हित की तुलना में श्रेष्ठ समझते है। स्वार्थ एव आत्मोन्नति की कामना को न्याय तथा धर्म के उन नित्य सिद्धान्तो से, जिनका दायित्व हमारे ऊपर रख दिया गया है, दबा दिया जाता है। जब प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्तव्य का पालन करता है तो समाज को न्याययुक्त अथवा धर्म-सम्मत कहा जाता है।

शूद्रो के भी वास्तविक हितो की उपेक्षा नही की गई थी। वैश्य व्यापार करते तथा धन एव सुखभोग में रुचि रखते थे, पर इसमें भी उन्हें जीवन एव कल्याण की भावना रखनी पडती थी। इस वर्ण को एक प्रकार का आर्थिक सघ कहना चाहिए। फिर भी वणिक्-वृत्ति दबी रहती थी क्योकि उन्हें सुख-साधनो को स्नेह-रज्जु में ही बाँधकर रखना होता था। क्षत्रियो का कर्तव्य था कि वे आन्तरिक अव्यवस्था तथा बाह्य आक्रमणो से समाज की रक्षा करें। देश की सैनिक शक्ति उनके ही अधीन थी। देश की राजनीति का सचालन भी वही करते थे। हिन्दू-धर्म को यह पसन्द नही था कि समस्त समाज आवश्यकता

* शुक्रनीति १. ३८-४२

पड़ने पर सैनिक का काम करे। प्रत्येक कार्य मे विशेषज्ञता ही कुशलता की जननी होती है। जिनका धर्म ही युद्ध करना तथा अन्याय का बलपूर्वक प्रतिकार करना है, उनकी चित्त-वृत्ति भी वैसी ही होनी चाहिए एव उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। शासन-कला का मर्मज्ञ प्रत्येक व्यक्ति नही हो सकता। लोगो की यह भावना दृढ होती जा रही है कि यदा-कदा राजनीति से अपना मनोरजन कर लेनेवाले लोग, जिनका उद्देश्य अपने निर्वाचको को सन्तोष देनामात्र होता है तथा जिनकी राजनीतिक पाठशाला लोकप्रिय निर्वाचनो की हुल्लडबाजी ही है कभी सफल शासक नही बन सकते। एक विशेष वर्ग को सेना तथा शासन का भार सौप दिया गया था। सम्पूर्ण समाज शासन, प्रभुता एव शक्ति की उत्कट वासना से पीडित नही था। आज दुनियाँ पर हुकूमत करने तथा अपने लिए बाजार तलाश करने की भावना से महायुद्ध छेडे जाते है, लोगो के चारित्रिक विकास अथवा कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नही। राजनीतिक विक्षिप्तता के कारण ससार में महान् अनवस्था है और हम एक अनिश्चित परिणाम की ओर द्रुतगति से विवश बहे जा रहे है। कहा जा सकता है कि इसी बात का क्या निश्चय कि शासन-व्यवसायी वर्ग की उपस्थिति मे न्यायपूर्ण निस्स्वार्थ राज्य स्थापित हो सकेगा। परन्तु जिस प्रकार की शिक्षा उन्हें दी जाती है, वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वे अपने कर्तव्य का पालन उचितरूप से करेंगे। इसके अलावा शासको को 'धर्म' के रद्द करने अथवा उसमें परिवर्तन करने का अधिकार ही नही था, वे तो केवल उसके पालन कराने के लिए नियुक्त थे। 'धर्म' में परिवर्तन तो केवल ब्राह्मण विद्वान् ही कर सकते थे, जिनका अपना कोई स्वार्थ नही था एव जो हठपूर्वक दरिद्रता में

रहकर आध्यात्मिक जीवन बिताते थे। शका अथवा सकट के अवसर पर धार्मिक समस्याओ का निर्णय वही किया करते थे।

उनका सामाजिक संगठन वही था जो विशिष्ट जन-शासन-प्रणाली का श्रेष्ठतम रूप हो सकता है क्योकि नियम बनाने का काम नि स्पृह दार्शनिको के ही हाथ में था। यहूदी, ईरानी तथा केल्ट जातियो में भी कानून बनाने का काम पुजारी ही करते थे। ब्राह्मणो के ज्ञान, आत्म-निग्रह, निस्स्वार्थ प्रेम आदिक सद्‌गुणो के कारण स्वार्थपूर्ण कानून का बनना कठिन था। ज्ञानार्जन तथा जीवनोत्कर्ष में निरत ब्राह्मणो का पद शासको तथा अधिकारियो से ऊँचा था तथा इनको सन्तोष देने-वाला आचरण करने को ब्राह्मण वाध्य नही थे। वे सभी सासारिक चिन्ताओ से मुक्त कर दिये गये थे , आध्यात्मिक बातो में वे भौमिक अधिकारियो के अधीन नही थे।* यह सस्था मानती है कि सब प्रकार के श्रेष्ठ सुधारो का जन्म पहले किसी एक ही व्यक्ति के मस्तिष्क में होता है और जनसाधारण उससे बचना चाहते है। यदि सुधार होने से पूर्व बहुमत उसके पक्ष में होना आवश्यक कर दिया जाय तो समाज कभी आगे नही बढ सकता। सस्कृति एव विकास के लिए परमावश्यक है कि विधायक विद्वान् एव पूर्ण स्वाधीन हो। 'शताब्दी (Century)' नामक पत्रिका में बरट्रेण्ड रशल का एक सुन्दर लेख है। उसमें उन्होने लिखा है कि "स्वतत्र न होने से दूरदर्शी व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है।" मनु के अनुसार "एक ज्ञानी का मत लाखो मूर्खो के मतो से श्रेष्ठ होता है"।†

* मनुस्मृति ४ ११

† मनुस्मृति १२ ११३

आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरो के अनुकूल ही तत्सम्बन्धी धर्म-नियमो का सृजन किया गया है। वैश्य सुखोपभोग की कामना लेकर ममतापूर्वक जीवन से चिपटा रहता है। क्षत्रिय सगठन एव सुव्यवस्था के लिए उसका विसर्जन कर देता है और वलपूर्वक अनाचार का दमन करता है। ब्राह्मण दृढ निश्चय एव अदम्य उत्साह के साथ अहिंसा का जीवन विताता है। उसकी अहिंसा दुर्बलता अथवा कायरता की नही, वरन् आत्म-शक्ति एव दिव्य प्रेम की सूचक है। वह क्षत्रिय की अवस्था को पार कर चुका है तथा उसने उसको सच्चे भक्त के अयोग्य पाया। शताब्दियो के परम्परा-प्राप्त अभ्यास एव वातावरण के प्रभाव ने हिन्दू को विनम्र, निष्क्रिय, मननशील, ब्राह्मण, सन्यासी के आदर्श का पुजारी वना दिया है। आज भी गाधी-जैसे क्षीणकाय महात्मा के सम्मुख वह पूर्ण श्रद्धा तथा अविचल भक्ति से नतमस्तक हो जाता है।

ब्राह्मणेतर वर्णो की व्यवस्था करने तथा क्षत्रियो का कर्तव्य ही युद्ध घोषित कर देने से अनेक लोगो का यह विश्वास हो गया है कि हिन्दू धर्म का आधार अहिंसा नही है। लोग इस सीधी वात को भूल जाते है कि उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए निम्न कोटि को पार करना आवश्यक है। हम जितना ही ऊपर चढते है, उतना ही हमारा जीवन अधिक त्यागमय हो जाना चाहिए। ईसा को अपने कधो पर विठाल कर नदी के पार ले जानेवाले साधु क्रिस्टफर की कथा हम सव पर चरितार्थ होती है। वह जितना ही अधिक गहरे पानी में वैठता गया उसका भार उतना ही अधिक वढता गया। धीरे-धीरे वासनाओ को जीतकर ससार के आध्यात्मिक मूलाधार के वढते हुए ज्ञान के द्वारा शूद्र वश में जन्म लेनेवाले सव मनुष्य क्रमश ऊपर को उठते है और

ब्राह्मण न बन जाने तक बढते ही जाते है। जितना ही ऊपर हम उठते है, हमारा बोझ उतना ही बढता जाता है और इस वर्द्धित भार के अनुपात से ही हमारी शक्ति बढनी चाहिए। क्षत्रिय, हीन वर्ण होने से बल प्रयोग कर सकता है—यद्यपि विशुद्ध हृदय एव घृणारहित बने रहकर—पर ब्राह्मण तो किसी दशा में भी घृणा अथवा बल-प्रयोग नही कर सकता। वर्णों में जो अपेक्षाकृत भेद है वह भी पूर्ण आदर्श की दृष्टि से ठीक है। हम इसका भी एक उदाहरण देते है। आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त भी मनुष्य तथा पशुओ में एक ही जीवन-प्रवाह माननेवाले हिन्दू-मत की पुष्टि करता है। हिन्दू-धर्म जीवमात्र को आदर की दृष्टि से देखने पर उनके प्रति स्नेह एव करुणा के प्रसार पर जोर देता है। अहिंसा का नियम पशुओ के लिए भी है। उसका तो यह भी सिद्धान्त है कि मास-भक्षण मनुष्यो की उदात्त वृत्तियो में जडता का सचार करता है। वह शरीर को जितना पुष्ट नही करता उतना मन को दुर्बल बनाता है। ईसा भी तो स्पष्ट कहते है कि पशुओ को भी अवध्य समझना चाहिए क्योकि बिना ईश्वर की मरज़ी के एक गौरैया की भी मृत्यु नही हो सकती। पर भारतवासी मासाहारी थे, अतएव ऐसे नियम बनाये गये जिससे मास-भक्षण चतुर्थ वर्ण के ही लिए विहित रह गया और शेष समाज के लिए साधारणत. उसका निषेध कर दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज समुदायत मास खाना छोड़ता जा रहा है।

वर्ण का आर्थिक महत्त्व है। आजकल पाई जानेवाली जातियो में से अनेक तो केवल व्यावसायिक समुदाय है। सब कोई सब कुछ नही कर सकता और न वह यह समझता ही है कि वह चाहे जिस व्यवसाय को सफलतापूर्वक चला सकता है। लोगो को काम की खोज में भी

नही भटकना पडता। उनका काम पहले से ही निश्चित रहता है। निर्वाध प्रतियोगिता एव स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-प्राधान्य का दमन किया जाता है। प्रत्येक काम अथवा व्यवसाय को धार्मिक स्वरूप दे दिया गया है। थवई तथा बढई, कुम्हार तथा ग्वाला विश्वास करता है कि अपना-अपना काम करके वह ईश्वर की इच्छा का पालन करता है और समाज की सेवा करता है। बडे पैमाने पर चलनेवाले उद्योगो तथा मिलो के इस युग में हम जरा भी नही सोचते कि परिवार से दूर रह कर किसी बडे मिल में काम करनेवाले मजदूर मशीन की तरह जिस काम में जुटे रहते है, उसमें उन्हें आनन्द नही मिलता। जाति-व्यवस्था में एक ही व्यवसाय में काम करनेवाले सब लोग अपने स्वाभाविक वातावरण में काम करते है, उन्हें घर से दूर जाकर थोडे वेतन पर अधिक समय तक काम करने को विवश नही होना पडता। सौन्दर्य, स्नेह तथा सामाजिक कर्तव्य की भावना से युक्त पूर्ण जातीय जीवन मजदूर को आनन्द देता है। उसके कुटुम्ब के लोग काम में उसका हाथ बँटाकर उसे माधुर्य तथा कोमलता से भर देते है। यदि अल्पवयस्क बच्चो तथा स्त्रियो का काम करना आवश्यक ही हो तो यही अधिक उपयुक्त है कि वे घरेलू वातावरण में ही काम करें जहाँ अपनी रचना-प्रवृत्तियो को वे स्वनिर्मित वस्तुओ में मूर्त कर सकें। प्रतियोगिता में सफलता अथवा ग्राहको के सन्तोष की अपेक्षा यहाँ पर कर्तव्य-पालन के लिए उन्हें श्रेष्ठतर प्रेरणा मिल सकती है। एक ही पेशे के लोगो में सामुदायिक सद्भावना एव व्यावसायिक मर्यादा का विकास होता है। वातावरण के विकासक प्रभाव से छोटे-छोटे बच्चो को उपयुक्त व्यावसायिक शिक्षा मिल जाती है। अज्ञातरूप से वे व्यवसाय-परम्परा में दक्ष हो जाते है और इस प्रकार अपनी रुचि के अनुकूल

आत्मानुमोदित व्यवसाय मे लग जाते है। यह सच है कि आधुनिक परिस्थितियाँ कुटीर-उद्योग अथवा छोटे पैमाने के उत्पादन के प्रतिकूल है, पर सभी जगह तो ऐसा नही है। ललित कलाएँ, सजावट के काम एव कताई तथा बुनाई के काम आदि किसानो के सहायक व्यवसाय के रूप मे घर पर चल सकते है और तेल के इजन अथवा बिजली से चलने वाले छोटे-छोटे कारखाने भी खोले जा सकते है। व्यावसायिक सघ के रूप मे जाति-व्यवस्था अभी बेकार नही हुई है। यद्यपि आरम्भ से ही जीवन के निश्चित कार्यक्रम बना लेने का प्रस्ताव अनुचित नही कहा जा सकता, फिर भी नैसर्गिक प्रतिभा तथा वैयक्तिक प्रवृत्ति का कुछ भी ध्यान न रख कर किसी पद्धति विशेष को स्थिर रूप दे देने का यह भी परिणाम हो सकता है कि व्यक्ति का जीवन दासता की जजीर में जकड जाय और वह आधुनिक युग की जटिल परिस्थिति के अनुकूल अपने को न बना सके।

वस्तुत किसी भी व्यक्ति की जाति उसकी बुद्धि, मनोवेग अथवा चेष्टा के प्राधान्य से निर्धारित होती है। ये स्थूलरूप से सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुणो के व्यजक है।* मनु ने जाति-निर्णायक तीन बातो का उल्लेख किया है—तपस् अथवा व्यक्तिगत प्रयास, श्रुतम् अथवा सास्कृतिक वातावरण एव योनि अथवा वशानुक्रम। पहला नियम काफी अनिश्चित है और उसका वैज्ञानिक उपयोग सम्भव नही। दूसरा पारिवारिक प्रभावो पर आश्रित है जो स्वय जन्म-जात सस्कारो पर आश्रित रहते है। व्यावहारिक लक्षण केवल जन्म रह जाता है और उनका मत हिन्दुओ को स्वीकृत कर्म एव पुनर्जन्म के सिद्धान्त के ही अनुकूल है।

* देखो भविष्यपुराण ३, ४-२३

भिन्न-भिन्न जातीय सस्कारो से युक्त मनुष्य एक साथ सोहार्द्र तथा शान्तिपूर्वक वर्ण-व्यवस्था को मानकर ही रह सकते है। इसके संस्थापको का विश्वास था कि यद्यपि जन्म समाज-विभाग का सर्वोत्तम परिचायक है पर उसका वास्तविक आधार आध्यात्मिक सस्कार ही हो। मनु यहाँ तक मानते है कि विशुद्ध एव साधु आचरण के पुरुष पैतृक सस्कारो पर विजय पा जाते है।* महाभारत के अनुसार "उच्चता की कसौटी निर्मल चरित्र है, जाति अथवा विद्वत्ता नही"।† जन्म के अलावा और सब बातो की हमने पूर्ण उपेक्षा कर रखी है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि लोग सदा के लिए एक अनुल्लघ्य सीमा में बन्द हो गये, भावी पीढियाँ इस व्यवस्था की दास बन गई एव सामाजिक विकास अवरुद्धप्राय हो गया। इस व्यवस्था के परिवर्तनाक्षम बाधासकुल रूप में जीवन के स्वाभाविक प्रवाह का कोई ध्यान नही रखा गया। हमारे समाज में इतना भेदभाव, इतनी बडी सम्बन्ध-हीनता आ गई है कि जाति के सिद्धान्त को गौण माने बिना काम नही चलता दिखाई देता। ऐसी ही स्थिति की ओर सकेत करते हुए महाभारत में लिखा गया है—"विवाहो के द्वारा इतनी बडी सकरता आ गई है कि जाति का नियम व्यर्थ हो गया है। हमें मुख्य स्थान शील को देना चाहिए। प्रथम मनु का कहना है कि शील का ध्यान न रखकर केवल जाति को सब कुछ समझना अर्थहीन है।"‡

छात्र-जीवन की शिक्षा एव अभ्यास के बावजूद भी वर्ण-धर्म की

* इस विषय में महाभारत-वाण पर्व, अध्याय २१६ भी पठनीय है
† वृत्तमेव—महाभारत-वाण पर्व, अध्याय ३१४
‡ वन पर्व १८२ देखो मनुस्मृति ४—२२४, २२५

भिन्नता के कारण लोगो में मिथ्याभिमान एव दूरत्व की भावना का आ जाना सम्भव था, अत सबके साथ एक-सा व्यवहार करने के नियम पर काफी ज़ोर दिया गया है। जैसे व्यवहार की हम दूसरो से आशा करते है वैसा ही व्यवहार दूसरो के साथ करना सर्वश्रेष्ठ गुण समझा जाता है। विष्णु पुराण में लिखा है—"तुम्हें सर्वत्र समत्व-दर्शन करना चाहिए क्योकि साम्य-भावना ही, समत्व ही, ईश्वर की उपासना है।"* अहिंसा, सत्य, निश्छल व्यवहार, पवित्रता तथा आत्म-निग्रह आदि ऐसे कर्तव्य है जिनका पालन सबके लिए समान भाव से अनिवार्य है।† आखिर वर्ण-विभेद हमारी अपूर्णताओ के ही कारण तो है, अतएव उसके लिए गर्व करने की कौन-सी बात है। भगवान् में वर्ण-भेद कहाँ है! जाति-भेदो का विधान केवल गृहस्थ-आश्रम के लिए है। यहाँ भी मानवता से वढकर उनका स्थान नही समझा जाता। आज इस वात की ज़रूरत है कि जाति-भेद के मूल सिद्धान्त को तो हम स्वीकार कर लें पर एक अधिक उदार सामाजिक मनोवृत्ति विकसित करने का अभ्यास करें। जीवन-सुविधाओ को घातक सकीर्णता एव कठोर नियमो से जकड रखना मानवता एव सौहार्द्र के आदर्श के प्रतिकूल है, अत. उनका परित्याग करना होगा। मनु ने उन्हें प्रोत्साहन नही दिया—"किसान, परिवार का शुभ-चिन्तक, ग्वाला, नौकर, नाई तथा सेवा-भाव से आनेवाले गरीब अपरिचित शूद्र के हाथ से भी भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए।"‡

* अध्याय १७

† मनुस्मृति १०-६३, ६-९१, ९२

‡ मनुस्मृति ४, २२३

भारत में मुसलमानो के आगमन से पूर्व जाति-भेद इतना अनुल्लघ्य नही था। सामाजिक नियमो मे तरलता थी तथा विकास के लिए आवश्यक परिवर्तन को किसी कठोर नियम के अनुरोध से बलिदान नही कर दिया जाता था। पुराणो में ऐसे पुरुषो तथा परिवारो की कथायें है जिन्हें हीन वर्ण से उच्च वर्ण प्राप्त हो गया था। उत्थान तथा पतन की सम्भावना मनु को भी मान्य है।* पुण्य क्रमिक शुद्धि के द्वारा वर्ण-परिवर्तन के लिए कुछ नियम है।† पुण्य करके निम्न कोटि से ऊपर उठना सम्भव था। जब भारत में हिन्दुओ का राजनीतिक प्रभुत्व लुप्त हो गया और यहाँ के नये शासको ने बलात् धर्म-परिवर्तन की नीति को अपना लिया तो सामाजिक भावना गायब हो गई तथा धर्म-नियम और रीतियाँ अन्धविश्वास बन गई, जिसका राष्ट्रीय सगठन पर बडा ही भयकर परिणाम हुआ। हमें धर्म की उस मूल भावना को पुन प्राप्त करना होगा जो कुछ विशेष रूपो तक ही सीमित नही थी प्रत्युत् जो पुराने रूपो को बदलकर तथा नये नये रूपों का विकास करके नित्य नये रूपो में व्यक्त हुआ करती थी। राजनीतिक सकट के समय जाति-व्यवस्था को जो विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया था, अब उसकी कोई आवश्यकता नही रही। भविष्य में वर्ण तभी रह सकेगा जब उसे सामाजिक सम्बन्धो तक ही सीमित रखा जाय। प्रत्येक समाज का नियम है कि व्याह-सम्बन्ध लोग उन्ही लोगो से करते है जो समान स्वभाव तथा आचार रखते है। चूँकि एक ही व्यवसाय के लोगो में सामान्य सास्कृतिक परम्परा का विकास अधिक सम्भव है, अत समान

* मनुस्मृति १०, ४२, ६, ३३५

† मनुस्मृति १०, ५७-६५

व्यवसाय के लोगो में व्याह सम्वन्ध का एक नियम-सा हो जाता है। प्राचीन भारत में भी असवर्ण विवाह को मना नही किया गया था यद्यपि उसको प्रोत्साहित भी नही किया गया। अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह कम ही होते थे पर हिन्दू कानून की दृष्टि मे वे अवैधानिक नही है।* इस प्रकार के विवाह बडी सख्या में इसलिए नही होते कि वे जाति के निकटतम औद्योगिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन में गडवडी उत्पन्न कर देते है। जाति-भेद यदि निकट सामाजिक सम्वन्ध का ही आधार रहे तो वह राष्ट्रीय जीवन के बडे क्षेत्र में बाधक नही हो सकता। सम्राट् अशोक ने अपने हिन्दू मत्री से कहा था—"विवाह तथा निमत्रण के समय वर्ण का विचार करना चाहिए, धर्म के प्रश्न मे नही, क्योकि धर्म का सम्वन्ध सद्‌गुणो से होता है और सद्‌गुणो एव वर्णो में कोई सम्वन्ध नही।"†

यह कहना कि हिन्दू समाज-सेवा से अपरिचित है, एक साहसपूर्ण असत्य है। अछूत जातियो का प्रश्न लेकर बड़ा कोलाहल मचाया जाता है, पर लोग इस बात को भूल जाते है कि स्वतत्र भारत ने अछूतो का जितना उपकार किया है उतना उपकार आज के युग में किसी भी स्वतत्र देश ने अपनी पिछडी जातियो का नही किया। उन्नत राष्ट्रो ने तस्मानिया तथा ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियो को, कुछ मावरी जातियो तथा उत्तरी अमेरिका के रेड इडियन लोगो को किस प्रकार सभ्य बनाया है? सस्कार करते-करते या तो उन्हें विलकुल लुप्त ही कर दिया है तथा जहाँ वह सम्भव नही हो सका, वहाँ उन्हें पाप तथा अपराध के

* देखो वॉम्बे लॉ रिपोर्टर भाग २४, गुलाब बाई बनाम हीरालाल

† इडियन सोशल रिफार्मर—जून ४, १९२२

उन गम्भीर खड्ड में गिरा दिया है जो वर्वर जीवन के किसी भी स्वाभाविक रूप की तुलना में अधिक हीन है। यदि ब्रिटिश-रक्षा में काफिर तथा डच लोगो की अभिभावकता में जावा-निवासियो की वृद्धि हुई है, यदि स्ट्रेट सेटिलमेण्ट तथा ब्रिटिश भारत के निवासी इन सुधारको के रहते भी ग़ायव नही हो गये है तो इसीलिए कि दयालु परमात्मा ने उन्हे ऐसे जलवायु में पैदा किया है जो उनके सुधारको के अनुकूल नही पडती। योरोपीय निवासी उष्ण-कटिवन्धो को कभी अपना निवास-स्थान नही वना सकते। वे वहाँ शासन कर सकते है, पर वस नही सकते। यदि प्राकृतिक वाधाएँ न होती तो इन कटिवन्धो का इतिहास दूसरा ही होता। जिस समय से आर्यगण इन कम सभ्य जातियो के सम्पर्क में आये तव से वरावर उनका यह प्रयास रहा कि कुछ ऐसा प्रवन्ध किया जाय, जिससे ये जातियाँ सामाजिक अथवा आध्यात्मिक विकास कर सकें। आर्यों ने इस अनार्य कृष्ण वर्ण जातियो के प्रतिनिधि कृष्ण को भी स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा वह उपदेश दिलवाया जो ईश्वर को सवका पिता तथा मनुष्यो को भाई-भाई वताता है। कृष्ण के आचरण से समाज ने अपने को अपमानित समझा तथा इन्द्र एव ब्रह्मा नामक वैदिक देवता क्रुद्ध हो गये। आज इन देवताओ के उपासक आर्य कृष्ण को भगवान् का अवतार मानते है। पर कृष्ण, आर्य-पण्डितो का वडा सम्मान करते थे और कहा जाता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण-अतिथियो के पैर उन्होने अपने ही हाथ से धोये थे। आर्यो ने अनार्य देवताओ के साथ वडा सुन्दर व्यवहार किया, जहाँ सम्भव हो सका उनमें सस्कार किया एव जहाँ आवश्यक हुआ उनको आर्य-देवताओ के अधीन कर लिया। महिपासुर के उपासको को वताया कि ब्रह्म महिप से श्रेष्ठ है। नागोपासको को

समझाया कि इन नागो से महान्, नागो के स्वामी, नागेश्वर कृष्ण है जिन्होने नागराज कालिय के फन पर नृत्य किया था। निम्न वर्ग के लोगो के क्रमिक सभ्य होने के चिह्न भारतवर्ष के समस्त सांस्कृतिक इतिहास में बिखरे पडे है। जब-जब लोक-प्रवृत्ति ने सामान्य मानवता की उपेक्षा की तब-तब कोई-न-कोई शकर अथवा बुद्ध उठ पडा तथा ऊँच-नीच सबके समान भविष्य की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया। देश का विस्तार, २,००० मील लम्बाई तथा १,५०० मील चौडाई, उतना नही है जितना डैन से बीरशेबा तक का। जो यातायात के साधन आज उपलब्ध है वे अभी हाल तक नही थे। यदि पिछडी हुई जातियो को सभ्य बनाने का काम हिन्दुओ ने उत्साह तथा सफलता के साथ न किया होता तो आज अछूतो की सख्या पाँच करोड़ से कही अधिक होती। जब विदेशियो का आक्रमण हुआ तो हिन्दू घबरा गये एवं आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर उन्होने तात्कालिक सामाजिक विभाग को स्थायी बना दिया। परिणामत कुछ जातियाँ वर्ण-व्यवस्था के बाहर ही रह गई। यद्यपि मनु का कहना है कि "पचम वर्ण है ही नही"* फिर भी जिन जातियो पर अभी तक धर्म का प्रभाव नही पड़ा था वे पचम वर्ण बन गई। "जो अपने कर्तव्य से च्युत है, क्रूर तथा निर्दय है और दूसरो को दु ख देता है, जो कामी तथा सहार की भावना से पूर्ण है वह म्लेच्छ है।"† इन लोगो की शोचनीय दशा का जितना वर्णन किया जाय, थोडा है। किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा केवल इसलिए करना कि वह नीच है अथवा किसी भिन्न जाति का है, हिन्दू-धर्म के

* १०, ४

† शुक्रनीति १, ४४

विरुद्ध है। अब जब शान्ति स्थापित हो चुकी है तो हिन्दू-नेता इस प्रमुख सत्य को बार-बार घोषित कर रहे है कि नीच-से-नीच पुरुष में भी आत्मा है और हमें कभी यह न समझना चाहिए कि उसका सुधार हो ही नही सकता।

वाणप्रस्थ तथा सन्यास नामक अन्तिम दोनो आश्रम, जिनको सुविधा के लिए हम एक ही समझ सकते है, उन लोगो के लिए है जो प्रतियोगितापूर्ण जीवन-सघर्ष से अवसर ग्रहण कर चुके है। भारतीय पुरुषो का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सन्यासी है। पक्षपात, घृणा एव वासना का पूर्ण विनाश करके व्यक्ति स्वार्थ-परायणता की निम्न कोटि से आत्म-विमर्जन की उच्चता तक जा पहुँचा है। वह सब सस्थाओ में रह चुका है और अब उन सबसे परे है। अब उसका भावुक जीवन भगवत्भक्ति अथवा ईश्वर-प्रेम में प्रकट होता है, पाशविक वासना अथवा वैयक्तिक सुखाभिलाषा में नही। उसे मानवता की एकता तथा सम्पूर्णता का प्रत्यक्षानुभव हो जाता है एव वह सब प्रकार के अन्ध-विश्वासो तथा दुराग्रहो से मुक्त हो जाता है। उसकी समस्त शक्ति का उपभोग मानव-सेवा में होता है क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर सब मनुष्यो में है एव सब मनुष्य ईश्वर ही है।* जो सबको एक में देखता है, जिसमे अहम् सर्वभावना से दब गया है, वह पाप कर ही नही सकता।† वही भगवद्गीता का पुरुषोत्तम, बौद्धो का बुद्ध, सच्चा ब्राह्मण है जिसे अपनी दरिद्रता का गर्व है, जो अपने कष्टो में ही प्रसन्न है तथा जो शान्ति एव आनन्द को हृदय मे रखकर स्थितप्रज्ञ हो जाता

* सर्वं भूतमयम् हरिम्—विष्णुपुराण १, १६, ६

† मनुस्मृति १२, ११८

है। वह सब मनुष्यो, पशुओ तथा पक्षियो को प्रेम करता है, अन्याय का प्रतिकार नही करता वरन् प्रेम से उसे जीत लेता है। उसमें मानव-आत्मा का श्रेष्ठतम स्वरूप दिखाई पडता है। उपनिषत्कालीन ऋषियो के युग से सन्यासियो के आदर्श से भारतीय जीवन सदा ही प्रभावित रहा है। इस आदर्श के पालन करने के लिए राजा अपने दण्ड तथा मुकुट को छोडकर दरिद्रतासूचक कपडे पहन लेता है, योद्धा विजय-गर्व भूल कर अपने अस्त्र-शस्त्र तोड फेकता है एव कुशल व्यापारी तथा मजदूर दृढतापूर्वक फल को भगवान् पर छोडकर अपने कर्तव्य-पालन में सलग्न हो जाता है।

सन्यासी मानवता के उपकारक एव सहायक होते है। उनमे जो सर्वश्रेष्ठ है, जैसे शकर तथा रामानुज, रामानन्द और कबीर, वे तो जाति के रक्त मे भिद गये है एव उन्होंने ही उसके धर्म की नीव डाली है। यह सच है कि मध्यकालीन योरोप की ही भाँति भारत में भी बहुतेरे सन्यासियो ने सासारिक चिन्ताओ से बचने के लिए एकान्त मे भाग जाने की गलती की। मठो की सुनसान कोठरियो में अथवा पहाडो की कन्दराओ में जीवन बितानेवाले ये सन्यासी गहन अन्धकार के पथ-भ्रष्ट यात्री है। पाप के निरन्तर ध्यान एव अपनी मुक्ति की चिन्ता में सलग्न ये तपस्वी, मालूम पडता है, अपनी आत्मा की रक्षा करने की व्यग्रता में ही उससे हाथ धो बैठे। जिस प्रकार मध्ययुगीय योरोप मे मठ-जीवन का जो तूफान उठा वह ईसा के उस उपदेश के बिलकुल प्रतिकूल है जो हमसे कहता है कि हमें अपने को विश्वासपात्र सेवक बनाना है, निरीक्षण-कार्य में नियुक्त चौकीदार, कार्याध्यक्ष जिसके ऊपर बहुत बडी जिम्मेदारी है, पुत्र जिससे पिता अपने गुप्त रहस्यो की चर्चा करता है, बनाना है, उसी प्रकार जीवन-सघर्ष से पराङ्मुख ये पुरुष

यथार्थ सन्यासी नही है। सन्यासी तो लोक-कल्याण के लिए परम विनम्रता, अटल विश्वास एव निश्छल प्रेम के साथ सब कुछ सहन करने को सदा तैयार रहता है।

उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए, ब्राह्मण बनने के लिए, यह आवश्यक नही है कि धर्म-नियमो का अक्षरश पालन किया जाय। ऐसे उदाहरण भी मिलते है जहाँ धर्म-वृत्ति एकाएक जाग पडी है—नितान्त साधारण प्रतीत होनेवाले लोगो में उच्च आध्यात्मिकता की बाढ तथा उच्च वर्गीय जीवन की शिक्षा से हीन व्यक्तियो में आश्चर्य-जनक चारित्रिक विकास भी देखने को मिलता है। धार्मिक नियम तो आध्यात्मिक विकास के सामान्य रूप के द्योतक है। निम्न श्रणी के लोगो के निरर्थक श्रम-साध्य नियम-पालन पर तथा कर्मकाण्ड के औचित्य के सम्बन्ध में चिन्तापूर्ण प्रश्नो पर मुक्तात्माएँ हँसा करती है। सभी वर्णों के लोग सन्यास-आश्रम में जा सकते है, पर विना तीनो ऋणो से उऋण हुए किसी को भी मुक्ति की इच्छा नही करना चाहिए*—देव-ऋण से स्तुति एव प्रार्थना के द्वारा, पितृ-ऋण से दान, समाज सेवा तथा सन्तानोत्पादन के द्वारा, ऋपि-ऋण से विद्या-दान के द्वारा उऋण हुआ जा सकता है।

जीवन से विरक्त वयोवृद्ध तथा सासारिक सफलता के लिए समुत्सुक युवा आदि सभी प्रकार के लोगो के लिए हिन्दू-धर्म में स्थान है। चारो वर्ण कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग नही है जिनमे हिन्दुओ को ही विभक्त किया जा सकता है प्रत्युत् वह तो एक ऐसा वर्गीकरण है जिसमें सम्पूर्ण ससार का समावेश हो सकता है। विना शक्ति-प्रयोग के

* मनुस्मृति ६, ३५

एव बिना शोषण की भावना के एशिया के एक बहुत बड भाग को हिन्दू-धर्म ने सभ्य बना दिया है। यह काम उसने साम्राज्य-विस्तार के प्रलोभन में आकर नही किया वरन् सास्कृतिक विजय की कामना से, अपनी आध्यात्मिकता से लोगो के विचारो एव हृदयो को प्रभावित करके किया है। हिन्दू-प्रतिभा की रचनात्मक प्रवृत्ति मध्य एशिया में स्थित खोतान से लेकर भारत एव आॅस्ट्रेलिया के बीच में स्थित जावा द्वीप तक सर्वत्र कला एव जीवन में फैल गई। ईसा की दूसरी शताब्दी मे जावा एक हिन्दू-उपनिवेश था और तब से बराबर वह हिन्दू अथवा बौद्ध रहा है। आज जापान, चीन तथा बर्मा भारत को अपनी आध्यात्मिक मातृभूमि मानते है, वैसे ही जैसे ईसाई फिलस्तीन को। रूस से चीन तक समरकन्द तिब्बत आदि जहाँ भी हम जायँ, हमें हिन्दू-सभ्यता का प्रभाव मिलेगा। यह सब बिलकुल साधारण प्रतीत होता है जब हम यह याद करते है कि भारतीय सभ्यता के चिह्न पश्चिमी एशिया में, दजला एव फरात नदियो से सिंचित मेसोपोटामिया के दोआब में भी पाये जाते है। बोगज कोय में जो खुदे हुए लेख पाये गये है, जो योग्य पण्डितो की राय में कम-से-कम १४०० वर्ष ईसापूर्व के है, वे हमें उनकी बात बताते है जो हिन्दू-देवताओ के उपासक थे। भारतवर्ष का यह इतना बडा प्रभाव इसलिए नही है कि उसका धर्म इतना प्राचीन अथवा उसका साम्राज्य इतना बडा है, इसलिए भी नहीं कि उसने सहारक शस्त्रास्त्रो का निर्माण किया है अथवा उसने बहुत बडी मात्रा में बल-प्रयोग किया है, वरन् इसलिए कि इस नानात्व के नीचे एकत्व का ज्ञान उसे था। जहाँ भी भारतवासी गये वहाँ सब पदार्थों की एकता भगवान् में कर लेने की भावना भी उनके साथ गई। जितने महान् विचार भारत में आये उन सबका सश्लेषण इसी रूप में किया गया। उसने

सभी धर्मों का स्वागत किया क्योंकि ध्यान की नभस्पर्शी उच्चता से उसने यह अनुभव कर लिया कि पर्वत-शिखर पर का आध्यात्मिक प्रदेश एक ही है यद्यपि घाटियो से उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न है। जो लोग बिना यह जाने कि सब रास्ते एक ही चोटी तक पहुँचने के विविध मार्ग है, मैदान में भटकते फिरते थे, उनको उसने बताया--"आँखें खोलो। घाटी की वस्तुएँ हमें अलग किये है। चोटी पर हम सब एक है। पहाडी के नीचे खडे रहने पर इस मार्ग की विविधता का अवश्य कुछ अर्थ है किन्तु अगर हमें इस बात का ज्ञान हो जाय कि हिमाच्छादित शिखरो पर उनका क्या महत्व है तो हमें पता चलेगा कि वे सब एक ही परमात्मा तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न रास्ते है।" सम्भव है कि अपनी समन्वय-शक्ति के कारण भारतवर्ष एक बार फिर ससार के उन प्रबल धार्मिक प्रवाहो में सामजस्य स्थापित कर सके जिनका सम्मिलन उसी अन्तरात्मा में हुआ है।

३

ईश्वर के सम्बन्ध में हिन्दू-मत

मानव-सस्था होने के नाते धर्म एक जीवधारी प्राणी के समान है। इसमें उसी प्रकार की सम्पूर्णता अथवा आत्म-वैलक्षण्य होता है जैसा अन्य जीवधारियो में। वह अचल, स्थिर न होकर सतत गतिशील रहता है। उसका तत्त्व उसके विगत जीवन में नही मिल सकता है और न उसके वर्तमान रूप में ही वह पाया जा सकता है। धर्म की व्याख्या हमें उसके वास्तविक अर्थ, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखकर करनी होगी, उसकी अस्फुट अथवा अर्धप्रस्फुटित अभिव्यवित म नही, ठीक वैसे ही जैसे येम्पीडाकिल्स की व्याख्या अरिस्टाटिल ने की थी (मेटाफिजिक्स १, ९८५ अ ३)। यदि हम किसी धर्म की क्रमिक अवस्थाओ के इतिहास का अध्ययन करें तो हम देखेगे कि उसमें एक ऐसा भौतिक गम्भीर तत्त्व है जो सदा नये-नये रूपो में अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया करता है पर जो कभी पूर्णत व्यक्त नही हो पाता। यह वर्द्धमान आदर्श, यह गत्यात्मक सिद्धान्त ही, जो किसी भी विशिष्ट अवस्था में अपूर्ण रूप से ही प्रकाशित रहता है, वास्तविक तत्त्व है, यही उस समस्त

ऐतिहासिक गति का वास्तविक अर्थ है।

यदि हम हिन्दू-धर्म का तत्त्व जानना चाहें तो वह हमें आध्यात्मिक अनुभूति की वास्तविकता में मिलेगा। अपने अन्तस्तल में हमने सत्य को दृढतापूर्वक पकड रखा है। हिन्दू-धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में धर्म की इस आभ्यन्तरिकता पर, उसके वैयक्तिक अथवा प्रयोगात्मक स्वरूप पर, जोर दिया गया है। जब हिन्दू वैदिककाल को अपने सस्थापकों का युग कहकर स्मरण करते है तो इसका अर्थ यह होता है कि वैदिक ऋषि पथ-प्रदर्शक थे, आध्यात्म देश के प्रथम अन्वेषक थे। ऋषि शब्द 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ 'देखना' होता है। धर्म का अर्थ दृष्टि विषय, दर्शन, अनुभूति होता है। ऋषियो ने जिस सत्य की घोषणा की है वह तर्क अथवा नियमित दर्शन का फल नहीं है प्रत्युत् आध्यात्मिक सूझ का परिणाम है। ऋषियो को वेद में निबद्ध सत्यो का रचयिता नही समझा जाता वरन् वे तो उनके देखनेवाले भर है जिन्होंने अपनी आत्मा का विश्वात्मा से तादात्म्य करके उन चरम सत्यो का दर्शन कर लिया है। उनके वचनो का आधार आवेशपूर्ण सूझ नही है वरन् हृदय में स्थित शक्ति एव जीवन का अनवरत अनुभव है। "सदा पश्यन्ति सूरय।" वेदो को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण इसीलिए माना जाता है कि वास्तविकता ही सबसे बडी प्रामाणिकता है। ईश्वर हमारा प्रिय आदर्श नहीं है, वह तो उस सत्य का नाम है जिसका हम अनुभव करते है। आध्यात्मिक अनुभूति किसी काल्पनिक विचार को नही, सत्य के निकटतम साहचर्य को कहते हैं।

जिस महात्मा ने भगवान् का साहचय प्राप्त किया है केवल उसके सम्बन्ध की चर्चा सुनकर ही उसे नही जाना है, वह उसकी परिभाषा नही चाहता। उसके लिए शका अथवा अविश्वास करना असम्भव है।

उसके इस अद्भुत एव सरल निश्चय को कोई भी डिगा नही सकता। किन्तु जिन्होने धर्म का ज्ञान दूसरो से सुनकर प्राप्त किया है, जो धार्मिक बनने का कष्ट तो नही उठाना चाहते पर धर्म से प्राप्त होने वाले सन्तोष का उपभोग करना चाहते है, जो धर्म का पथ-दर्शक चमत्कारपूर्ण कहानियो अथवा कर्मकाण्ड की सस्कार-पद्धति को बनाना चाहते है, उन साधारण मनुष्यो के लिए इस अनुभूति को चित्रात्मक रूप देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त अपने अनुभव को दूसरे पर व्यक्त करने का, उसके रहस्यो को विशद रूप देने तथा विरुद्ध आलोचना से उसकी यथार्थता की रक्षा करने का एकमात्र साधन भाषा तथा तर्क है। हिन्दू-धर्म में ईश्वर की व्याख्याएँ सभी प्रकार की सस्कृति के लोगो के अनुरूप पाई जाती है—बिलकुल स्थूल भी तथा परम सूक्ष्म भी।

इस अन्तर्ज्ञान से युक्त व्यक्ति जब अपने अनुभव को साधारण तर्क की भाषा का रूप देना चाहता है तो वह एक अनिवार्य प्रबल विश्वास के साथ, जो स्वाभाविक है, इस अलौकिक सत्य का प्रतिपादन करता है। वह जानता है कि आत्मा का निकट, सीधा तथा निश्चित सम्बन्ध एक ऐसे लोक से है जो इन्द्रिय-जगत् से भिन्न है, जो इन्द्रियो के इस सामान्य लोक से अत्यधिक तेजपूर्ण होकर भी उससे किसी प्रकार कम सत्य नही है। तर्क, अन्तर्ज्ञान एव आध्यात्मिक अनुभूति सब एक स्वर से उस सत्ता की यथार्थता के साक्षी है जिसका मूल स्वरूप आध्यात्मिक है, जो इस सबका आधार है, "अमरता एव मृत्यु जिसकी प्रतिच्छाया है" (यस्य छायामृतम् यस्य मृत्यु'-ऋग्वेद १०, १२१)। आध्यात्मिक अनुभूति का मुख्य लक्षण उसकी अनिर्वचनीयता है। जब हम अनुभूत सत्य का वर्णन करना चाहते है तब हमें रूपो अथवा शब्दो का सहारा

लना पडता है पर सत्य को व्यक्त करने के लिए वड-से-वडे शब्द अथवा रूप भी अपर्याप्त है। वुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति की यथार्थता स्वीकार करते है पर वे उसे किसी स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञापक नही मानते। उनकी दृष्टि में यह मत कि आध्यात्मिक अनुभूति ईश्वर का साक्षात्कार कराती है, अनुमानमात्र है, प्रत्यक्ष ज्ञान नही। वुद्ध प्रत्यक्ष को छोडना नही चाहते। वे इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो जाते है कि इस व्यक्त वस्तु-जगत् में एक सूक्ष्म भाव जगत् भी व्याप्त है। श्रेष्ठ हिन्दू-दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री शकराचार्य का कथन है कि सभी रूपो में मिथ्या का अश रहता है एव सत्य रूपो से परे है। उपनिपद्, वुद्ध और शकराचार्य तथा उनके अनुयायी मानते है कि अविभक्त, अद्वैत इस अनेकरूप, अनित्य जगत् से परे अथवा उसी में व्याप्त विशुद्ध तेजपूर्ण आत्मा एक निर्गुण सत्ता है जिसका न तो सम्यक् ज्ञान ही सम्भव है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है। हम न मानकर भी इस वात को मान लेते है कि ईश्वर की महत्ता अज्ञेय है, वह मन तथा वचन की पहुँच के वाहर है। "वह ज्ञात से भिन्न है तथा अज्ञात से भी श्रेष्ठ है" (केनोपनिपद् १, ३)। "वहाँ तक दृष्टि नही पहुँचती, मन तथा वाणी भी नहीं पहुँचती" (वृहदारण्यक उपनिपद् ३, ८, ८)। पर इस वौद्धिक तथा आध्यात्मिक विनम्रता में एक खतरा है। ब्रह्म के विपय में मौन रहने से वुद्ध पर नास्तिक होने का आक्षेप किया गया। उस चरम सत्य को सर्वथा सम्वन्धहीन एव निर्गुण वताकर हम उसे केवलमात्र सत्ता-शून्य वना देते है। शकराचार्य का कहना है कि अनुभवमूलक गुणो के अभाव को सत्ता का अभाव समझना मूर्खो का काम है। निपेधात्मक वर्णन तो ब्रह्म की जिस अलौकिक महत्ता का अनुभव जीव ने किया है उसको केवल व्यक्त कर देने का प्रयास है--वह ब्रह्म जो पूर्णतः

भिन्न है जिसके विषय में निषेध वाक्यो को छोडकर और कुछ कहा ही नही जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल निषेधात्मक व्याख्या से सन्तुष्ट नही हुआ। आध्यात्मिक अनुभूति के तीन मुख्य गुण होते है—सत्य, ज्ञान तथा निरपेक्षता। चूँकि हमारी अनुभूति का कुछ भाग इन गुणो से युक्त होता है, अतएव यह भी सम्भव है कि अनुभूतिमात्र का स्वरूप इसी प्रकार का हो। जिस चेतना को प्रत्यक्ष, निरपेक्ष अन्तर्ज्ञान होता है वह वही दिव्य चेतना है जो हमारा आदर्श है। उस ब्राह्मी स्थिति में वास्तविकता स्वय अपने आप को देखती है, स्वय अपने आप को जानती है एव पूर्णत स्वतत्र रहती है। तब ऐसा कुछ शेष नही रह जाता जो उसका अपना ही स्वरूप न बन जाय अथवा जो उसको अज्ञात रह जाय और तब सभी प्रकार के द्वन्द्वो का अन्त हो जाता है। यही पूर्ण सत्ता, पूर्ण चेतना, पूर्ण स्वतत्रता की स्थिति है, यही सत्, चित्, आनन्द है। विचार तथा उसके विभिन्न रूप, इच्छा तथा क्रिया, प्रेम तथा समत्व का वही आधार है। उसके ये मानवी अश कष्ट, क्षोभ एव द्वन्द्व पूर्ण होते है। इसीलिए जो सान्त तथा मानवी है वह अनन्त एव पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से अपर्याप्त है। परमात्मा यथार्थ है, सत्य नही; पूर्ण है, प्रशस्त नही। उसकी स्वतत्रता ही उसका जीवन है, वही उसकी मूलभूत स्वाभाविकता है।

यद्यपि इस अध्यात्म-तत्त्व की पूर्णता सासारिक पदार्थों से भिन्न है, फिर भी वह हममें पाई जानेवाली श्रेष्ठतम वृत्तियो से बहुत कुछ मिलती है। यदि ब्रह्म का स्वरूप मानव की आत्मा से बिलकुल भिन्न होता तो उसका अस्पष्ट आभास भी पाना हमारे लिए सम्भव न होता। हम यह भी न कह सकते कि ब्रह्म सर्वथा भिन्न गुणवाला है।

मनुष्य की आत्मा में उनके अन्तस्तल में, उसकी बुद्धि के भी परे एक ऐसा तत्त्व है जो ब्रह्म से मिलता-जुलता है। मनुष्य के हृदय में ही ब्रह्मानुभूति का आधार मौजूद है। ईश्वर का प्रगट होना तथा मनुष्य का चिन्तन एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। ईश्वर एवं मनुष्य की आत्मा में साम्य-दर्शन ही अध्यात्म-ज्ञान की आधार-शिला है। वह केवल अनुमान का विषय नहीं है। आध्यात्मिक अनुभूति में आत्मा तथा परमात्मा का भेद नहीं रहता। हम परमात्मा के अंश हैं एवं हममें वही प्रतिबिम्बित हो रहा है। "तत्वमसि" (तुम वही हो) महावाक्य एक अनुभूत सत्य का वर्णनमात्र है। बाइबिल का यह वाक्य--"ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही रूप का बनाया, उसने उसे ईश्वर के ही रूप का बनाया।" (उत्पत्ति प्रकरण १, २७) हमें बताता है कि "मनुष्य की आत्मा में ही ईश्वर का दीपक है।" (प्रावर्ब २०, २७)। प्लैटो के मतानुसार मनुष्य में सूक्ष्मरूप से अमरत्व शक्ति रहती है, जिसका स्वामी बनने के लिए उसे अनित्य सांसारिक पदार्थों से विरक्ति का अभ्यास करना होगा। इसी गहन सत्य को ईसा इस प्रकार प्रगट किया करता था— "मैं और मेरा पिता एक ही हैं।"

ईश्वर वह अनन्त तत्त्व है जो हमारे भीतर भी है और बाहर भी। यदि हमारे भीतर परमात्मा न होता तो हमें उसकी आवश्यकता का अनुभव ही न होता, यदि हमारे बाहर वह न होता तो उपासना की कोई जरूरत न रहती। जब हम परमात्मा को मनुष्य की आत्मा से श्रेष्ठ स्वरूप का बताते हैं तो हमारा धर्म भक्तिपूर्ण होता है। ईश्वर-सम्बन्धी हमारा सर्वोच्च ज्ञान भी अपूर्ण ही होता है। सदा कुछ-न-कुछ ऐसा शेष रह ही जाता है जो अज्ञात या अनुच्चारित है। धार्मिक चेतना इस बात पर जोर देती है कि उस श्रेष्ठ तत्त्व के साथ साहचर्य

का अनुभव करें जिसके साथ हमारे तादात्म्य की सम्भावना न हो। भक्ति कई प्रकार की होती है। एक भक्त अपने प्रभु के समीप चरम दैन्य की भावना लेकर उपस्थित होता है और दूसरा अपने उस प्रियतम के प्रेमालाप मे मग्न रहता है जिसकी दया की आशा अधम-से-अधम पापी भी कर सकता है। उस सर्वोत्तम तत्त्व से ईश्वर की तुलना करना, जिसका ज्ञान हमको है, किसी अन्य वस्तु से तुलना करने की अपेक्षा कही अधिक सत्य के नजदीक है। भक्त उस महान् सत्य को एक ऐसे साकार ईश्वर का रूप देना चाहता है जो ससार का मूल, पथ-दर्शक एव अन्त है। ब्रह्म को निरपेक्ष तत्त्व समझने अथवा उसे शरीरधारी ईश्वर मानने मे कुछ मौलिक भेद नही है केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। अन्तर इतना ही है कि एक हमें ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का और दूसरा उसके उस स्वरूप का जैसा वह हमारी इन्द्रियो को प्रतीत होता है। ईश्वर का व्यक्तित्व तो एक चिह्नमात्र है और यदि हम उसकी लाक्षणिकता को भूल गये तो सत्य से बहुत दूर जा पडेंगे।

हिन्दू-धर्म भारत के अध्यात्म-ज्ञान का निदर्शक है। ब्रह्म की एकता एव सम्पूर्णता का ज्ञान ही इसका आधार है। अपने इस विश्वास के कारण कि मनुष्य-जीवन सर्वत्र एव सदैव भगवान् का ही अश होता है, उसने धार्मिक उदारता का बहुत अभ्यास किया है। वह मानता है कि अनुभव की व्याख्यायें अनेक हो सकती है। यदि हमम कुछ लोग ग्रीष्म की सन्ध्या के समय अस्तोन्मुख सूर्य-सुषमा का निरीक्षण करें तो सबकी भावनायें एव विचार एक नही होगे और उनका वर्णन भी निश्चय ही भिन्न-भिन्न होगा। पर इस व्याख्या-विविधता के कारण हमें शकालु अथवा नास्तिक हो जाने की आवश्यकता नही।

४

इस्लाम और भारतीय विचार-धारा*

(१)

आज के युग में हम अनेक दिशाओ में अपने पूर्वजो की अपेक्षा एक उच्चतर ज्ञान और अधिक व्यापक दर्शन की उत्कट खोज के चिह्न पाते हैं जैसा कि शायद ही कभी हुआ हो। अब धार्मिक विचारो के परम्परागत बन्धन ढीले पड रहे हैं और लोग विचार-स्वतन्त्रता तथा अपने जीवन को वर्तमान समय की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ के अनुरूप नये सिरे से परिवर्तित करने के अधिकार का कार्य करते हैं। आधुनिकता से प्रभावित मस्तिष्क को प्राचीन ज्ञान के निष्कर्ष और प्राचीन विनम्र श्रद्धाओ की अपेक्षा नूतन विचार अधिक आकर्षक प्रतीत

* इस्लाम पर स्फुट विचार—लेखक सर अहमद हुसेन के सी आई. ई., सी. एस आई , सम्पादक, खान बहादुर हाजी ख्वाजा मुहम्मद हुसेन, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, हैदराबाद (दक्षिण)।

होते है। आज के युग की अस्थिरता पुराने धर्मों को इस बात की चुनौती है कि वे अपनी उपादेयता और उपयुक्तता को एक बार फिर प्रमाणित करें। सभी उन्नतिशील धर्मों के आध्यात्मिक नेता अपने परम्परागत विचारो पर मनन करने में सलग्न है ताकि वे वर्द्धमान ज्ञान और अनुभव से प्रेरित आक्षेपो से उनकी रक्षा कर सकें। जिस पुस्तक की मै आलोचना कर रहा हूँ उसमें सर अहमद हुसेन महोदय ने, जो कि एक सम्भ्रान्त, उदार तथा धर्मनिष्ठ भारतीय मुसलमान है, उन दिशाओ की ओर सकेत किया है जिनमे इस्लाम की व्याख्या करना आधुनिक विज्ञान और दर्शन से सामजस्य स्थापित कराने के लिए आवश्यक है। इस पुस्तक से हमें इस बात का आभास मिलता है कि इस्लाम के भावी पुनर्निर्माण में भारतवर्ष की क्या देन होगी।

किसी धर्म का किसी देश विशेष में क्या रूप होगा, यह उसकी सास्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय विशिष्टता पर निर्भर करता है। अरब में इस्लाम केवल एक सरल किन्तु उच्च ईश्वरवादी धर्म था, जिसमे आगे आनेवाली शताब्दियो में उत्पन्न हुई बारीकियो के लिए कोई स्थान नही था। जब इसने फारस के लोगो पर अधिकार जमाया तब सेमिटिक भावनाओ ने रहस्यवादी भावनाओ के सामने मस्तक टेका। आदिम अरब-परम्परा की अनुपम सुन्दरता का स्थान एक गहन दर्शन तथा आकर्षक धर्म-कथाओ ने ले लिया, जिनमें मुहम्मद एक रहस्यपूर्ण व्यक्ति बन गये जो न पूर्णत इस लोक के थे और न स्वर्ग के। भारतीय जनता में लगभग ७ करोड़ व्यक्ति इस्लाम-धर्म को मानते है और उनमें से अधिकाश उसी नस्ल के है जिसके हिन्दू। यह स्वाभाविक है कि भारतीय इस्लाम की अपनी विशेषताये है। अभी कल तक

भारतीय मुसलमान इस्लाम की व्याख्या करने में अपने आध्यात्मिक वशानुगत ज्ञान का उपयोग करना अपने लिए गौरव की वस्तु समझता था। परन्तु इधर, आश्चर्य है कि हमारे कुछ शिक्षित मुसलमान भाइयो के हृदय में एक विचित्र भ्रम घर करता जा रहा है कि चूंकि उन्होने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया है, वे स्पेन के मूरो और बग़दाद के खलीफाओ के वशज हो गये हे। वे सास्कृतिक और समाजिक दृष्टि से अपने को अपने हिन्दू-पडोसियो से भिन्न मानते हे। अपने धार्मिक विश्वास अथवा बौद्धिक विचारो को बदलकर हम अपनी सम्पूर्ण मानसिक दशा को तो नही बदल देते। धर्म-परिवर्तन का अर्थ यह तो नही होता कि हम अपने देश के इतिहास अथवा उसके आदर्शों से विलग हो जायें। आज के युग की यह अभिनन्दनीय स्थिति है कि मुसलमानो के भारतीय नेता भारतवर्ष की आध्यात्मिक परम्परा की एकता का अनुभव करने लगे हे और उन कृत्रिम विपमताओ तथा विभिन्नताओ का विरोध कर रहे हे जिन्हें झूठे पैगम्बरो और कुटिल राजनीतिज्ञो ने उकसाया है। हमारा धर्म चाहे जो हो परन्तु हमारी रगो में एक ही खून प्रवाहित हो रहा है और हमारी आध्यात्मिक परम्परा एक ही है। 'ए. ई' जो बात आयरलेड के विषय में कहता है वह भारतवर्ष के विषय में और भी अधिक सत्य है। हम उन कुछ अवशिष्ट जातियो में से एक हे, जिनकी परम्परा का स्रोत देवताओ और दैवी घटनाओ से सम्बद्ध है।* भारतवर्ष का इतिहास अतीत की धुंधली स्मृतियो तक जाता है और इसी कारण हमारी अनेक पद्धतियाँ हमें प्रभावित करती हे और कभी-कभी हमारी इच्छा के प्रतिकूल अन्तरात्मा में एक अद्भुत

* 'भाष्यकार'

स्वर झंकृत करती तथा हमें विस्मृत घटनाओ की याद दिलाती और हमारी विस्मृत दृष्टि को सक्रिय बनाती है। भारतात्मा एक आध्यात्मिक तत्त्व है जो हम सबको भारतीय बनाता है। एक व्यापक अध्यात्म की आधार-शिला के सहारे इस्लाम की सत्यतम, उच्चतम और उत्कृष्टतम अर्थ में व्याख्या करने का, ताकि वह उस धर्म से पृथक् हो जाय जिसे एक अशिक्षित कट्टरपथी, कुटिल राजनीतिज्ञ अथवा अनुदार मुल्ला स्वीकार करता है, भारतीय मुसलमानो का ही अधिकार है। यदि भारतीय मुसलमान अपनी पैतृक परम्परा और नव-स्वीकृत धर्म में सामञ्जस्य पैदा कर ले तो वह इस्लाम के उन पहलुओ को बल दे सकेगा जो अभी तक उदासीनता के शिकार रहे है परन्तु जिन्होने सचमुच सभ्यता तथा सस्कृति के विकास और एक मृतप्राय सस्था को नव-जीवन प्रदान करने में सहयोग दिया है। साथ ही वह उन निस्सार छोटी-छोटी बातो का तिरस्कार कर सकेगा जो ऐतिहासिक घटनाओ के कारण आवश्यकता से अधिक महत्त्व पा गई है। वह उस रूढि-प्राप्त धर्म के कुप्रभाव को तोड़ सकेगा जो जनता के जीवन को ओत-प्रोत किये है और इस्लाम-जगत् के समक्ष मुहम्मद की शिक्षाओ का ऐसा भाष्य प्रस्तुत कर सकेगा जो, मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ, उनकी शिक्षाओ के अधिक सन्निकट होगा, उन रूढिवादी परिवर्द्धनो के नही जिनकी सृष्टि उनके बाद के अनुयायियो ने की है। श्री अमीर अली ने अपनी पुस्तक 'इस्लाम की अन्तरात्मा' में (जिसका इस आलोचना के लिखने में मैने निस्सकोच उपयोग किया है) और सर अहमद हुसेन ने अपनी पुस्तक 'इस्लाम पर स्फुट विचार' में उन सुन्दर विचार-कुसुमो का आभास दिया है जो भारतीय अतीत की भूमि में विकसित होगे।

(२)

मुहम्मद के जीवन के जिस पहलू का भारतीयो पर सबसे अधिक प्रभाव पडता ह, वह है उनकी गहन धार्मिक भावना। सृष्टि के रहस्योद्घाटन के प्रयत्न में मुहम्मद प्रार्थना और मनन के लिए हीरा पर्वत की एक कन्दरा में विचार-निमग्न और समाविस्थ रात-रात वैठे रहते थे। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ था सत्य को पहचानना एव जीवन में उसे मूर्तरूप देना। धर्म और जीवन को पर्याय वताने का अर्थ यह होता है कि हम धार्मिक विश्वासो और रूढियो के प्रति भी वैसी धारणा वना लेते है। धार्मिक विश्वास उसी सीमा तक ठीक होते हे जहाँ तक उनमें और जीवन की घटनाओ में साम्य होता है। अनुभव धार्मिक विश्वासो की कसौटी है और यह प्रत्येक युग का कर्तव्य है कि वह अनुभव के अनुरूप धार्मिक विश्वासो की नूतन व्याख्या करता जाय। सर अहमद हुसेन ने इस्लाम की जो नई व्याख्या प्रस्तुत की है वह न तो पूर्णतः प्राचीन विश्वास के अनुकूल है और न पूर्णत उसकी विरोधी, वरन् वह इन दोनो के वीच की वस्तु है (पृष्ठ ८ ६)। लेखक कुरान के शब्दो की उस शाब्दिक व्याख्या को ईश्वर-वाक्य मानने के लिए तैयार नही है जो मुल्लाओ तथा मौलवियो ने प्रस्तुत की है वरन् उसने उनका वह अर्थ लगाने में, जो उसको युक्तसगत मालूम होता है अपने को पूर्ण अधिकारी माना है। ऐसा करने में उन्होने मुहम्मद की शिक्षा के प्राण का अनुगमन किया है क्योकि उन्होने कही भी ऐसे वन्धन नही लगाये है जिनके कारण भावी मनुष्य-जाति की आत्मा पर प्रतिबन्ध लगे। ईश्वर का ज्ञान मनुष्यात्मा के द्वारा ही सम्भव है और हम यह विश्वास करने के लिए विवश नही है कि जिनको ऐसा ज्ञान हुआ था, उनमें से

बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपने युग की भूलो और भ्रमों से पूर्णतः मुक्त था। कुरान में ऐसी अनेक स्थानीय और अल्पकालीन महत्त्व की बातें है जो धर्म के शुद्ध अर्थ में बिलकुल अनावश्यक है। सभी धर्मों के कट्टर और अनुदार अनुयायी भूल जाते है कि धर्म की शुष्क अस्थियाँ सारहीन है, महत्त्व तो केवल उस भावना का है जो उन अस्थियो में प्राण-प्रतिष्ठा करती है (पृष्ठ १२)। सर अहमद हुसेन ने इस्लाम और उस धर्म का अन्तर प्रगट करने का उद्योग किया है जिसे हमारे कुछ मौलवी कट्टरता के साथ प्रतिपादित करते है। "मै इस्लाम को मुहम्मदी धर्म से पृथक् मानता हूँ। मुहम्मदी धर्म वास्तविक और शुद्ध इस्लाम नही है। वह इस्लाम की आत्मा को भूल गया है और केवल उसके नियमो की शब्दावली को याद किये है" (पृष्ठ १२ टिप्पणी क)।

जब हम धर्म के अनुभव-गम्य पहलू पर विचार करते है तो हम देखते है कि सभी मतो के सचमुच धार्मिक व्यक्ति एक-दूसरे के उससे कही अधिक निकट है जितना कि वे समझते है। हिन्दू-धर्म की उदारता के अनुरूप हमारे लेखक ने स्वीकार किया है कि सभी धर्मों का आधार-सत्य एक है और उसने जलालुद्दीन रूमी के इस वाक्य को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है—"सभी धर्मों में मौलिक एकता है।"* भारतीय मुसलमान के लिए पृथक्करण की भावना को हृदयगम करना असम्भव है यद्यपि सेमिटिक धर्मो की यह एक प्रमुख विशिष्टता है। भारतवर्ष अपने इतिहास के आदि काल से धार्मिक स्वतत्रता और धार्मिक सद्भावना का समर्थक रहा है। इसी भावना के अनुरूप अकबर

* महनईर, तृतीय, पृष्ठ १२

महान् ने सभी भारतीयो को एक ऐसे धर्म के सूत्र में बाँधकर, जिसकी क्रियाओ में मुसलमान और हिन्दू एक-दूसरे से सहयोग कर सकें, एक सुसगठित राष्ट्र में परिणत करने का उद्योग किया था यद्यपि उस समय की स्थिति की प्रतिकूलता के कारण वह अपने उद्देश्य में सफल नही हो सका। उपनिषदो की आदर्शवादिता से प्रभावित होकर, जिसमें मूर्ति-पूजा और अन्ध-विश्वास के लिए कोई स्थान नही है और जो इस कारण ससार के सभी लोगो को स्वीकार्य हो सकती है, अकबर के प्रपौत्र दारा शिकोह ने 'मजमुए बहरैन' (अर्थात् इस्लाम और हिन्दू-धर्म के सागरो का सम्मिलन) नामक पुस्तक की रचना की। उसने स्वीकार किया कि दोनो ही धर्म उच्च जीवन का मार्ग दिखाने की पूरी क्षमता रखते हैं। सर अहमद हुसेन का विश्वास है कि हम विभिन्न मार्गो का अनुसरण करते हुए भी समान मुक्ति-पद की प्राप्ति कर सकते है। "कृपया यह न भूलिए मनुष्य अनेक है और मस्तिष्क भी अनेक है। अत जितने विचारशील मस्तिष्क है उतने ही विभिन्न धर्म, ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न मत, उसके गुणो की विभिन्न कल्पनाएँ और सृष्टि तथा प्रलय की उतनी ही धारणाएँ सम्भव है" (पृष्ठ २४)। जो लोग मुसलमानो के आचारो से परिचित है, उनके लिए शायद यह विश्वास करना कठिन होगा कि उपर्युक्त मत कुरान की शिक्षाओ के अनुकूल है। किन्तु यह ठोस सत्य है। यह भ्रातिमूलक विश्वास कि इस्लाम के अतिरिक्त और कोई सच्चा धर्म नही है, कट्टरता, असहनशीलता और धर्मान्धता का सृजन करता है और कुरान की शिक्षाओ के विरुद्ध है। "कुरान की दूसरी सुरा का पहला खण्ड हमें स्पष्ट आदेश देता है कि न केवल उसमें विश्वास करो जो मुहम्मद को व्यक्त किया गया था वरन उसमें भी विश्वास करो जो मुहम्मद के पूर्ववर्ती सन्तो के द्वारा प्रगट किया गया है। यह स्पष्टत इस

बात का प्रमाण है कि आज भी कई सच्चे धर्म हैं और भविष्य में भी अनेक सच्चे धर्म रहेंगे जिनमें इस्लाम केवल एक होगा और है।" (पृष्ठ ४०-४१)*।

* जलालुद्दीन रूमी की मसनवी पंक्तियों का निम्नांकित सारांश व्यक्त करता है कि हमें निम्न कोटि की उपासना-विधियों से क्यों सहानुभूति रखनी चाहिए और उनकी सदाशयता में विश्वास करना चाहिए—

"मूसा ने एक दिन ग्रीष्म ऋतु में एक विक्षिप्त गडरिये को ईश्वर की प्रतिष्ठा पर आक्षेप करते हुए प्रार्थना करते सुना और वह घबरा उठा क्योंकि गडरिया कह रहा था, 'परमात्मा, कैसा अच्छा होता कि मैं जान पाता कि तू कहाँ है ताकि मैं तेरी सेवा कर सकता, तेरे बालों में कंघी कर देता, तेरे जूतों की मिट्टी झाड़ देता, तेरे कमरे में झाड़ू लगा देता और तेरे लिए नित्य प्रातःकाल दूध और शहद ले आया करता।' मूसा ने कहा, 'अरे अधर्मी! वाग्धारा को रोक। तू किस से बातें कर रहा है? क्या तू सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अल्ला के प्रति यह कह रहा है? क्या तू समझता है कि उसे तेरी मूर्खतापूर्ण सेवा की आवश्यकता है? क्या तू सभी सीमाओं का उल्लंघन कर जायगा? कुकर्मी! चेत जा, ताकि बिजली न फटे और हम सब तेरे कारण विनाश को प्राप्त न हों। वह तो बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है, न उसके कोई बेटा है, न स्त्री, न वह किसी स्थान में बन्द है और न वह समय के अन्तर्गत है। उस पर यदि कोई सीमाएँ कुछ प्रभाव रखती हैं तो वे हैं प्रकाश और प्रेम।' लज्जित होकर बेचारे गड़रिये ने अपना कपड़ा फाड़ दिया। उसका सभी धर्मावेश नष्ट हो गया और वह हिम्मत हारकर चल

मुहम्मद की धार्मिक प्रतिभा इसी से स्पष्ट है कि उन्होने कोई सैद्धान्तिक परीक्षण नही रखा। उनके वाक्यो के सग्रह में प्राय सर्वप्रथम वाक्य है—"जो व्यक्ति कहता है कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई दूसरा देवता नही है वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा।" मुहम्मद ने ईसाई और यहूदी धर्मों के पृथक्त्व की नीति का विरोध किया है और कहा है कि वे सभी लोग मोक्ष के अधिकारी है जो ईश्वर में विश्वास करते है और उसकी आज्ञाओ का पालन करते है। "यहूदी और ईसाई कहते है कि उनके सिवा कोई भी स्वर्ग में प्रवेश न पा सकेगा यदि यह सच है तो इसका प्रमाण दीजिए। नही, वह जो ईश्वर की ओर आकृष्ट होता है और उचित कार्य करता है, ईश्वर की कृपा प्राप्त करेगा।" (सुरा पचम १०५-१०६)। "सचमुच मुसलमान और वे जो

दिया। तब ईश्वर ने मूसा से कहा, 'तूने मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के बहाने मेरे एक सेवक को दु खी करके क्यो भगा दिया है ? ऐ जल्दबाज, मैंने तुझे लोगो को अलग करनेवाली नही वरन् मिलानेवाली शिक्षा देने के लिए भेजा था। मुझे जो सबसे अधिक नापसद है, वह है बिलगाव और परित्याग। सबसे बुरी बात है किसी को बलपूर्वक किसी मार्ग पर चलवाना। मैंने व्यक्तिगत लाभ के लिए सृष्टि नही की थी वरन् मेरा उद्देश्य यह था कि जीव मुझसे मिलने की महत्ता को समझ सके। यदि कोई बचपन की बात करे तो इससे क्या होता है ! मैं तो केवल हृदय की परख करता हूँ कि उसमें मेरे लिए विशुद्ध प्रेम है कि नही।'"

क्लाड फील्ड द्वारा विरचित 'इस्लाम के सतो और सूफियो' से उद्धृत, पृष्ठ १५४

यहूदी, ईसाई अथवा सबाई है अथवा जो भी ईश्वर में अन्तिम दिन में विश्वास करता है और वह कार्य करता है जो ठीक है ......उनको ईश्वर की कृपा प्राप्त होगी, उनको न किसी वस्तु का भय होगा और न उनको कोई दु ख होगा।" (सुरा पचम ६९)। विमल अन्तरदृष्टि के कारण मुहम्मद ने आचार को विचार की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। प्रत्येक धर्म जो नेकी के बढाने में सहायक होता है, उसके सिद्धान्त चाहे जो हो, स्वीकार करने योग्य है क्योकि यदि हम ईश्वरेच्छा का पालन करेंगे तो हमें धर्म के सिद्धान्त भी मालूम हो जायँगे। "हमने प्रत्येक को एक नियम और एक मार्ग बताया है और यदि ईश्वर की इच्छा होती तो वह सबको एक धर्म का अनुयायी बना सकता था। परन्तु उसने ऐसा नही किया ताकि वह तुम सबकी उस मार्ग में परीक्षा कर सके जो उसने अलग-अलग तुम सबको बताया है। इसलिए अच्छे कार्यों में निष्ठा बढाओ। तुम्हें ईश्वर के पास लौटकर जाना है और वह तुम्हें उसका ज्ञान प्रदान करेगा जिसके विषय में तुममें मतभेद है।" (सुरा पचम, ४८)।* कुरान के अनुसार मुसलमान वे हैं, "जो नैतिक आचरण में विश्वास रखते है और अपने जीवन में नैतिक आचरण का पालन करते है।" वे सब लोग मुसलमान है, "जो ईश्वर में आस्था रखते है और अच्छे काम करते है।"† इसी दृष्टिकोण से अभी हिज हाइनेस दि आगा खाँ ने कहा था कि महात्मा गाधी मुसलमान है। ईसा ने भी यह नही कहा था कि "तुम उनकी पहचान उनके

* इकतीसवी ४६, तैंतीसवी २३, २४, उनतालीसवी ४१, चालीसवी १३ भी देखिए।

† प्रार्थना-सगीत।

विश्वासो से कर सकोगे" बल्कि यह कि "तुम उनके कार्यों से उनकी पहचान कर सकोगे" और पीटर ने भी ठीक ही कहा है—"मुझे यह सत्य प्रतीत होता है कि ईश्वर व्यक्ति विशेष की चाह नही करता, वरन् प्रत्येक राष्ट्र और जाति में जो उससे डरता है और आचरण शुद्ध रखता है उसे वह स्वीकार करता है।"*

सर अहमद हुसेन ठीक ही कहते है कि "इस्लाम और ईसाई धर्म अथवा किसी दूसरे सत्य धर्म में कोई वैषम्य नही है" क्योकि सभी धर्मों का सार यही है कि हम सब ईश्वर के पुत्र है और आपस में भाई-भाई हैं। केवल रूढ़ि-प्रधान सम्प्रदाय ही एक-दूसरे के विरोधी है। ईसा का धर्म मुहम्मद के धर्म से समता रखता है, परन्तु जब सेंट पॉल कहते है कि ईसा को मसीह और मनुष्यो के बीच में ईश्वरवत् मानो—जो एक ऐसी बात है जिसका समर्थन करते सभी विचारशील ईसाई हिचकते है—तो ईसाई-धर्म इस्लाम का विरोधी हो जाता है और मुसलमान की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह ईसा के सम्बन्ध में कही जानेवाली बात को मुहम्मद के विषय में कहे। इस्लाम के पक्ष में यह बात कहनी ही पडेगी कि उसमें मुहम्मद के विषय में जो कहा गया है वह अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। वह उसे ईश्वर का दूत मानता है जिसने मनुष्यमात्र के एक बडे भाग के धर्म का सशोधन किया। इस सबके होते हुए भी वे केवल मनुष्य के समान पाप कर सकते थे और अल्लाह की दया के उतने ही भूखे थे। "यह न इस्लाम है और न ईमान कि मुहम्मद ईश्वर थे अथवा ईश्वर के समान थे। यद्यपि कुछ मौलवियो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि अहमद के स्वरूप

* कार्य दशम ३४-३५

में वही अहद (अर्थात् एक) है। हमारे पैगम्बर ने खुद कभी अपने को मनुष्य से बढाकर नही बताया (पृष्ठ ४८)।" मुहम्मद ने कहा है— "ईश्वर ने मुझे चमत्कार दिखाने के लिए नही भेजा है। उसने मुझे तुम्हे धर्म की शिक्षा देने के लिए भेजा है। मैंने यह कभी नही कहा कि अल्लाह की देनें मेरे हाथ में हैं, अथवा मै गुप्त बातो को जानता हूँ या मै कोई फरिश्ता हूँ। मै तो एक ऐसा व्यक्ति हूँ जो बिना अल्लाह की मर्जी के न अपनी मदद कर सकता है और न अपने ऊपर भरोसा कर सकता है।" (सुरा सत्रहवी, ९५-९८, बहत्तरवी २१-२४)। तो भी उनके प्रारम्भिक अनुयायियो का उत्साह और भक्ति ऐसी थी कि मुहम्मद के सम्बन्ध में अनेक धार्मिक तथा चमत्कारक कहानियाँ प्रचलित हो गई। कहा जाता है कि जिस दिन पैगम्बर का जन्म हुआ उस रात को कॉस रोज का महल भूचाल के कारण गिर गया, पारसियो की पवित्र आग बुझ गई, सावा झील सूख गई, दजला नदी में बाढ़ आ गई और ससार भर की मूर्तियाँ मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ी। सौभाग्यवश इन कहानियो ने कभी पवित्र धर्म-कथाओ का रूप ग्रहण नही किया। उनके प्रारम्भिक अरब-अनुयायी इतने जागरूक और विचारशील थे कि उन्होने मुहम्मद की रातोरात यरूशलम की यात्रा और ईश्वर का मक्का के निकट उन्हें अपना पैगम्बर कहकर सम्बोधित करना आदि कहानियो को भी इस्लाम में वह महत्त्व प्राप्त न करने दिया जो ईसाई-धर्म में ईसा के पुनरुज्जीवित होन और आकाश-मार्ग से उडते चले जाने को प्राप्त है। उनको मसीहा का श्रद्धास्पद स्थान भी सदा नही मिलता। इस सम्बन्ध में वहाबी-आन्दोलन को देखिए जिसका सिद्धान्त है कि ईश्वर की उपासना के लिए केवल उसके सम्मुख सिजदा करना पर्याप्त है। उसके निकट किसी सहायक को बुलाने की भावना मूर्ति-पूजा के

समान है और सबसे अधिक पुण्य का काम यह होगा कि मुहम्मद की कब्र और इमामो की दरगाहो को पूर्णत नष्ट कर दिया जाय।

मुहम्मद-जैसे पडित के लिए बलपूर्वक मत-परिवर्तन कराने की शिक्षा देना असम्भव है। हम मनुष्यो को अपने विचार बदलने के लिए विवश नही कर सकते। "धर्म के मामले में कोई जबरदस्ती न करो" (सुरा द्वितीय, २५७)। "यह जानते हुए कि ईमान ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है क्या तू किसी को ईमान लाने के लिए विवश करेगा ?"* यह सन्देहपूर्ण है कि मुहम्मद का विचार अरब के अतिरिक्त अन्य लोगो का धर्म-परिवर्तन कराने का भी था। धार्मिक अत्याचार और बलपूर्वक मुसलमान बनाना इस्लाम की सच्ची शिक्षाओ के प्रतिकूल है यद्यपि इनके कारण इस्लाम के सुन्दर नाम पर बहुत बडा धब्बा लगाया गया है। इस्लाम पर अत्याचार करनेवाले और बाद म उसके खलीफा बननेवाले उमर ने पहले पहल उनके विरुद्ध तलवार उठाई जिन्होने बिना समझे-बूझे इस्लाम पर ईमान लाने से इनकार किया। मुहम्मद के अनुयायियो में से कुछ की भोडी कृतियो से जन-साधारण में यह विश्वास फैल गया कि जो अपने धर्म की सेवा में लडते हुए प्राण देते है वे उच्चतर शहीद है। भारतीय मुसलमान अपने हिन्दू भाई की भांति धार्मिक विचारो की स्वतत्रता में विश्वास करता है। अभी हाल में ही सर अब्दुर्रहीम ने कहा था--"यह बिलकुल ही गलत ख्याल है कि इस्लाम के नियम बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन की आज्ञा देते है।"† खिलाफत-आन्दोलन का राजनीतिक महत्त्व चाहे जो हो किन्तु

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा', लेखक— अमीर अली, २१२
† कलकत्ता रिव्यू, मई १९२३

इसने धार्मिक स्वतन्त्रता के प्रश्न को अवश्य सहायता दी है। कुत-अल उमरा के समर्थक सर चार्ल्स टाउनशेण्ड ने थोड़े ही दिन पहिले लिखा था—"भारतवर्ष की हिन्दू-जनता ने सम्पूर्ण विश्व के लोगो की धार्मिक स्वतन्त्रता के प्रश्न को अपनी समस्या माना है।"* भारतीय आत्मा इस्लाम को अपनी कतिपय कट्टरताओ को ढीला करन की ओर प्रेरित कर रही है। इस्लाम और हिन्दू-धर्म के पारस्परिक सम्पर्क से, जो आजकल एक-दूसरे पर दृष्टि किये हुए है, भारतीय भूमि पर प्रचारित धर्मों में साम्य स्थापित करने की भावना को बल मिलेगा।

(३)

अब हम इस्लाम के सिद्धान्तो पर विचार करके देखें कि क्या ईश्वर की कल्पना हिन्दू-दृष्टिकोण से मौलिकरूप में भिन्न है। यद्यपि सभी धर्म ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते है तो भी जिस रूप में ईश्वर की पूजा की जाती है, उसी के आधार पर धर्मों में विभिन्नता आ जाती है। हिन्दुओ के अनुसार ईश्वर की रहस्यमयी सत्ता का आभास किन्ही शब्दो से व्यक्त नही किया जा सकता। ईश्वर की कोई बौद्धिक परिभाषा नही दी जा सकती, हाँ, उसका आत्मा के सहारे अनुभव किया जा सकता है। यदि परिभाषा देना ही पड़े तो हम उन साधनो का उपयोग किये बिना नही रह सकते जो हमें उपलब्ध है। हम अपनी चेतना-शक्ति से परिचित है, इसलिए हम ईश्वर की प्रवृत्ति की व्याख्या इसी की समानता के सहारे करते है। ईश्वर दैवी सत्ता है

* एशिया, दिसम्बर, १९२२

जिसमें सत्य, स्नेह और पूर्णता अथवा ज्ञान, सौन्दर्य और शक्ति के तीनो गुण वर्तमान है। अथवा यो कहिये कि उसमें चेतन-जगत् को ज्ञान, भावना तथा चेष्टा से सम्बन्धित निस्सीमता, सौन्दर्य और राज-सत्ता नामक गुण विद्यमान है। हिन्दुओ की त्रिमूर्ति की कल्पना ईश्वर की प्रवृत्ति के इन्ही तीनो पक्षो को व्यक्त करती है। ब्रह्मा के स्वरूप में ईश्वर सृजन करता है विष्णु के रूप में पालता है और शिव के रूप में न्याय करता है। सृष्टि करने में, ब्रह्मा ईश्वर के आदर्श स्वरूपो का सहारा लेता है। उसकी असीम बुद्धि का परिचय उस असीम संसार से मिलता है जो है, था और भविष्य में भी रहेगा। असीम शक्ति और विश्व-शासक के हृदय में स्नेह का प्रतीक विष्णु है। वह हमें बुराइयो का सामना करने में सहायता देता है और ऊपर उठने में सहयोग करता है। शिव न्यायाधीश के समान है जिनको शक्ति असीम है "जो कुछ भी कर सकते है अथवा बिना किये छोड दे सकते है अथवा जिस प्रकार उसे करना चाहिए उससे भिन्न ढग से कर सकते है।"* हिन्दू, ईश्वर को चाहे जिस नाम से पुकारे परन्तु वह उसमें ज्ञान, प्रेम और जीवन की सामूहिक कल्पना अवश्य करता है। सर अहमद हुसेन का विश्वास है कि सभी धर्म एक ही सत्ता में विश्वास करते है—"एक और केवल ईश्वर जो असीम, सर्वोपरि, अनादि, अनन्त और पूर्णत स्वच्छन्द है। उसी असीम और सर्वोपरि सत्ता को विभिन्न भाषाओ में यज्द, ईश्वर, जेहोवा, गॉड, अल्लाह आदि कहा गया है।"

ईश्वर की सर्वोपरिता और सीमित-मस्तिष्क-अग्राह्यता कुरान के कई स्थलो में वर्णित है। पहली ही पदावली में कहा गया है—"कहो

* कर्तुम्कर्तं अन्यथाकर्तुम् समर्थ

वही केवल अल्लाह है, अनादि ईश्वर। वह न तो किसी को जन्म देता है और न किसी ने उसको जन्म दिया है। उसके समान कोई दूसरा नही है।" ससार में सभी कुछ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं; केवल ईश्वर इससे मुक्त है। ईश्वर ही एक ऐसी चट्टान है जिस पर हम समय-चक्र की घटनाओ के तूफान में खडे रह सकते है, वही एक ऐसी आशा है जिसके सहारे हम ससार के अन्धकार, इसके पापो और अन्यायो का सामना कर सकते है, परन्तु इस भौतिक ससार मे ईश्वर की सत्ता की पूरी व्याख्या करने का एक भी साधन उपलब्ध नही है। "मनुष्य की आँखें उसे देख नही सकती परन्तु वह मनुष्यो की आँखो का निरीक्षण कर सकता है क्योकि वह रहस्यो का ज्ञाता, ज्ञानी है" (सुरा छठवी, १०४)। हज़रत अली ने ईश्वर की किसी जीव विशेष से समता करने की चेष्टा की भर्त्सना की है। "ईश्वर किसी ऐसे पदार्थ के समान नही है जिसकी मनुष्य कल्पना कर सके, न उसमें किसी ऐसे गुण का प्रतिपादन किया जा सकता है जो तनिक भी उस गुण से मिलती हो जिसका ज्ञान मनुष्य ने सासारिक अनुभव द्वारा प्राप्त किया हो। धर्म की पूर्णता ईश्वर को जानने में है, ज्ञान की पूर्णता उसकी सत्यता स्वीकार करने में है, सत्यता की पूर्णता निश्छलता के साथ उसकी एकता में विश्वास करने में है और निश्छलता की पूर्णता ईश्वर में सब गुणो के इनकार करने में है। ईश्वर का स्थान, काल अथवा परिणाम से कोई सम्बन्ध नही है।"* मनुष्य केवल इस नकारात्मक आदर्श से सन्तुष्ट नही हो सकता इसलिए वह ईश्वर की मनुष्यरूप में कल्पना करने पर आग्रह करता है। कुरान की पहली पदावली में कहा गया है--"उस

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ४१६ में उद्धृत

ईश्वर की स्तुति करनी चाहिए जो समस्त ससारो का पालक, दयालु, उदार और अन्तिम निर्णय के समय का न्यायाधीश है।" वैष्णव-धर्म और ईसाई धर्म ईश्वर की प्रेममयी कल्पना पर सबसे अधिक वल देते हैं, परन्तु यहूदी और इस्लाम धर्मों में ईश्वर की शक्ति को बहुत महत्त्व दिया गया है। ईश्वर सर्वोच्च शक्ति और सर्वकालीन न्यायाधीश है। मुहम्मद अतिम निर्णय के दिन का बहुधा जिक्र करते है जब कि आकाश और पृथ्वी मोड दी जायगी, ईश्वर के अतिरिक्त कोई पास नही होगा और प्रत्येक व्यक्ति के पाप पुण्यो का लेखा-जोखा प्रधान न्यायाधीश ईश्वर के सम्मुख होगा। ईश्वर की दूसरी विशेषताओ की अवहेलना नही की गई है। ईश्वर केवल न्यायी ही नहीं है वरन् वह "पापो को क्षमा करनेवाला और प्रायश्चित को स्वीकार करनेवाला भी है" (सुरा चालीसवी, १-२), वह भूले हुए लोगो का पथ-प्रदर्शक और सभी सन्तापो से मुक्ति देनेवाला है जिसका स्नेह "पक्षी के अपने बच्चे के प्रति स्नेह से भी अधिक कोमल है"।* ईश्वर का स्नेह प्रगट करनेवाले वाक्य अनेक स्थलो पर आते है—"हे ईश्वर मुझ पर दया कर क्योंकि तू दया करनेवालो में सबसे श्रेष्ठ है" (सुरा बाईसवी, ११८)। "क्या वह अधिक सम्मान के योग्य नही है जो दुखियो की पुकार सुनता है, उनके दु खो को दूर करता है और तुम्हें तुम्हारे पूर्वजो का उत्तराधिकारी बनाता है ?" (सुरा सत्ताइसवी, ६२)। "ईश्वर से क्षमा मांगो और उसकी ओर आकृष्ट हो। सचमुच ईश्वर दयालु और स्नेहशील है" (सुरा ग्यारहवी, ९०)। "कह दो कि ऐ मेरे बन्दो, तुमने नियमो का उल्लघन करके अपने को ही हानि पहुँचाई

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ १५०, १५७

है परन्तु तुम निराश न हो क्योकि ईश्वर सभी पापो को क्षमा करता है। वह कृपालु और दयालु है।" (सुरा उन्तालीसवी, ५३)। अर्रहमान शब्द, जिससे कुरान का प्रत्येक परिच्छेद प्रारम्भ होता है, इस बात का द्योतक है कि दैवी प्रेम का अचल सभी जगत् के ऊपर है। वह मनुष्य पर इस प्रकार प्रभाव डालता है कि उसके हृदय के ऊपर का परदा हट जाता है और वह ईश्वर के निकट पहुँच जाता है। ईश्वर ससार का सृष्टा तथा पालक भी है। वह राग-द्वेषहीन दूरस्थ देवता से अधिक इतिहास और प्रकृति में व्याप्त सत्ता है। ईश्वर पूरब और पश्चिम दोनो ओर है। इसलिए तुम चाहे जिस ओर मुख करो, तुम्हें ईश्वर का स्वरूप दिखाई पडेगा। (प्रथम, ११५)। "और वह तुम्हारे ही भीतर है, वह तुम्हे क्यो नही दिखाई पडता?" (इक्यावनवी, २१)। "हम शीघ्र ही सभी स्थानो में और उनकी आत्माओ में ही अपने प्रकाश को प्रकट करेंगे, यहाँ तक कि उनको विदित हो जाय कि यह सत्य है।" (बारहवी, ५३)। इस भाँति कर्ता, पालक और न्यायी के गुण ईश्वर में प्रतिपादित है और उसको त्रिमूर्ति की कल्पना से बचानेवाली बात केवल यही है कि उसकी एकता पर सभी स्थलो में बल दिया गया है।

जीवात्मा का निर्माता ईश्वर है और जब तक वह पुन ईश्वर में लीन नही हो जाती तब तक इसे विश्राम नही मिलता। उस जटिल प्रकृति को ईश्वर की भेंट कर देना चाहिए। हमें अपनी बुद्धि का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे हम सभी वस्तुओ में ईश्वर की सत्ता का अनुभव कर सकें। परमेश्वर को विद्यमान मान लेने से ईश्वर के भरोसे हो जाने की बात स्वाभाविक रीति से आ जाती है। हम ईश्वर की प्रार्थना करते है और विनम्रतापूर्वक अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है। सभी प्रार्थनाओ का केन्द्रीय विषय यही रहता है कि व्यक्ति

विनम्र है, सभी अच्छे पदार्थों के देनेवाले ईश्वर का वश महान् है और ईश्वर की कृपा ही भक्त का अवलम्ब है। हम प्रार्थना के द्वारा अपने हृदय की कृतज्ञता को प्रगट करते हैं और इसके लिए पृथ्वी का प्रत्येक स्थल उपयुक्त है। हम दैनिक जीवन में उसके पथ-प्रदर्शन पर आश्रित रहते हैं और उसके आदर्श के अनुकूल अपने जीवन को बनाने के लिए सचेष्ट रहते हैं। चाहे हम ज्ञान-मार्ग का सहारा लें, चाहे भक्ति का और चाहे कर्म-मार्ग का, किन्तु उद्देश्य और परिणाम एक ही रहता है।

इस्लाम में नैतिकता का आदर्श काफी ऊँचा है। यदि हमें उन्नति में रहनेवाले पिता के योग्य बनना है तो हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे मनुष्य की दैवी उत्पत्ति पर शंका उत्पन्न हो। सच्ची धार्मिकता के विकास के लिए मुहम्मद ने रोजा, नमाज, जकात (दान), हज्ज (मक्का की धर्म-यात्रा) और आचरण की शुद्धता पर बल दिया है। दान देना सभी के लिए अनिवार्य है। अतिथि-सेवा धर्म का अंग बन गया है। अव्यभिचार को एक विशेष गुण माना गया है। शराब के नशे में मस्त हो जाना, जुआ खेलना तथा अन्य अनुचित कार्यों की भर्त्सना की गई है। धर्म का सार नैतिक आचरण ही है। "जो भोग-वासनाओं और दिखावे से बचते हैं, दान देते हैं, प्रार्थना करते हैं, अपने वादों और उत्तरदायित्व को निभाते हैं वे सनातन सुख के अधिकारी होंगे।" (सूरा तेईसवीं, ८)। "जो मुसलमान नंगों को कपड़े देता है, उसे ईश्वर जन्नत में हरे वस्त्र पहनायेगा।"* आदम के पुत्र इब्राहीम की कहानी, जिसके आधार पर ले हण्ट ने 'अबू बिन आधम' कविता लिखी है, यही शिक्षा देती है कि मनुष्यों का हितैषी ईश्वर का हितैषी है।

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ५४

साधारण मुसलमान चाहे जो कुछ करता हो परन्तु इस्लाम-धर्म जीवधारियो की ओर से उदासीन नही है, वरन् वह उनके जीवन की पवित्रता पर बल देता है। "ससार में सभी जानवर और सभी पक्षी उसी प्रकार जीवधारी है जैसे कि तुम और अन्त में वह भी ईश्वर में ही लीन होगे।"* जानवरो की कुर्बानी के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमानों को कुरान की ये पक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिए—"ईश्वर उस जीव के खून अथवा मास से सन्तुष्ट नही होता जिसकी तुम कुर्बानी करते हो, वरन् वह तुम्हारी धर्म-निष्ठा से सन्तुष्ट होता है।" (सुरा बाईसवी, ३७)। क्षमा कर देना और विरोध न करना इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत नही समझे जाते। इस सम्बन्ध में कुरान के निम्नाकित अवतरणो पर ध्यान देना उपयोगी होगा—"बुराई का बदला उस वस्तु से दो जो बेहतर है" (सुरा इकतालीसवी, ३४)। स्वर्ग का वर्णन करते हुए मुहम्मद ने कहा—"यह उन भले लोगो के लिए है जो समृद्धि और निर्धनता की दशा में भी दान देते है, जो क्रोध को वश में रखते हैं, मनुष्य के प्रति क्षमा का व्यवहार करते है, क्योकि परमात्मा नेकी करनेवालो से ही स्नेह करता है।" (सुरा बयालिसवी, ७)। भोजन, तलाक आदि से सम्बन्ध रखनेवाली छोटी-छोटी बातो का इस्लाम-धर्म से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। यद्यपि मुहम्मद ने अपने समय को ध्यान म रखते हुए उनके विषय में भी कुछ आदेश दिये है लेकिन उनमें कोई विशेष धार्मिकता का पुट नही है। जैसा कि माननीय श्री अमीर अली कहते है—"खाने-पीने से सम्बन्ध रखनेवाली आज्ञाएँ, अर्थात् विधि-निषेध, मुहम्मद साहब ने प्रचारित अवश्य किये है किन्तु इस बात का स्मरण रखना

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा', पृष्ठ १५८

चाहिए कि वे उन समय की अस्थायी स्थिति के अनुकूल थे। उन परिस्थितियों के न रहने पर उन नियमों की आवश्यकता भी नष्ट हो गई है। इसलिए यह धारणा बनाना कि इस्लाम की प्रत्येक शिक्षा अनिवार्यतः अपरिवर्तनीय है, मनुष्य की बुद्धि के विकास और इतिहास के साथ अन्याय करना है।" पैगम्बर साहब ने मनुष्य की बुद्धि को अंधाधुंध आदेशों की चेरी बनाने की शिक्षा नहीं दी। जो धर्म साधारण बुद्धि के आधार पर सभी दिशाओं में प्रभावित हुआ है, वह आजकल की दुनियां में असामुचित कृत्यों का समर्थक नहीं बनाया जा सकता। भारतीय मुसलमान आचार्यों के नेताओं को यह निश्चित करना पड़ेगा कि यदि उनके जीवन का आदर्श पारस्परिक प्रेम, अन्याय का शांतिपूर्वक सहन, किसी को कष्ट न पहुंचाना और अखिल विश्व की शांति और सदाशयता की उन्नति करना है तो भारतीय मुसलमानों की किन प्रथाओं में परिवर्तन वाञ्छनीय है।

अन्तिम निर्णय के दिन वे लोग, जिन्होंने कुरान की शिक्षाओं की अवहेलना की है, बड़े संकट का अनुभव करेंगे और जिन्होंने उनके अनुरूप अपने जीवन को ढाला है वे ईश्वर में लीन हो जायेंगे। मुहम्मद का बहिश्त में जाना इस बात का प्रतीक है कि ससीम और असीम का संयोग होना सम्भव है। सूफी मत का कथन है कि मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य ईश्वर में फना (लीन) हो जाना है क्योंकि जो ईश्वर का दर्शन कर लेता है वह ईश्वरवत् हो जाता है। मनुष्य जिन दशाओं में होकर ईश्वरत्व प्राप्त करता है उनका जलालुद्दीन रूमी द्वारा इस भांति वर्णन किया गया है—

"निर्जीव पदार्थ से पहले हम वनस्पति-जगत में प्रविष्ट हुए, उससे उठकर हम जीवधारी हुए और उसमें भी उन्नति करने पर हम

मनुष्य हुए। तब फिर क्या भय है कि मृत्यु हमें निम्नतर कोटि में गिरा देगी! अगले जन्म में हम फरिश्ते होंगे और उस दशा से उन्नति करके हम नामहीन परमेश्वर में लीन होंगे। सभी सृष्टि पुकारकर कह रही है--"हम लौटकर ईश्वर में ही लीन होंगे।"

जीवन का ध्येय ईश्वर में लीन होना ही है। अल हुजवीरी नामक सूफी कहता है—"जब मनुष्य अपने गुणो से परे हो जाता है तो वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह न तो निकट होता है और न दूर, न लिप्त और न विलग, न उन्मत्त और न सबोध, न घनिष्ठ और न अपरिचित, उस समय उसका न कोई नाम रहता है, न निशान।"* यद्यपि सूफियों के अनुसार जीवन का चरम उत्कर्ष ईश्वर में लीन होना है, परन्तु कुरान उस जीवन का रोचक और स्वाभाविक वर्णन करती है जो मुक्तात्माओ को प्राप्त होता है। इस जीवन के वर्णन बहुत ही वास्तविक प्रतीत होते है और कुछ-कुछ शृंगार-पूर्ण भी, परन्तु उनको शाब्दिक अर्थ में सत्य मानना भूल होगी। "ऐ शान्त जीव! अपने स्वामी के पास वापस जा, प्रसन्न हो और उसे प्रसन्न कर। आ, मेरे सेवको में सम्मिलित हो और मेरे आनन्द-कानन मे विचर" (नवासिवी, २७-३०)। यह दोनो मत वेदान्त के अद्वैत और आस्तिक भाष्यकारो के मतो के समान है। व्यक्तित्त्व का विकास पूर्णता प्राप्त करने तक रुक नही सकता, अस्तु भविष्य में चरित्र के उत्तरोत्तर विकास के लिए अवसर मिलते रहेंगे।

भविष्य हमारे वर्तमान जीवन पर आश्रित है। "भविष्य में प्रत्येक जीव वही भोगेगा जिसका उसने सौदा किया है" (दसवी, ३०)।

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ १७२, २१३

स्वर्ग अथवा नरक हमारे कर्मों का ही फल है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ईश्वर की अशेष इच्छा ही सबको प्रेरणा देती रहती है। इस्लाम के परवर्ती इतिहास में ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता और मनुष्य के उत्तरदायित्व में साम्य स्थापित करने की अनेक चेष्टायें हुई हैं। क़ुरान में ऐसे स्थल हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि ईश्वर मनमानी करता है। "चूंकि ईश्वर सभी का स्वामी है इसलिए वह जिसे चाहता है क्षमा करता है और जिसे चाहता है दण्ड देता है" (दूसरी, १८४, तीसरी, २२, पांचवीं, १८ और तेरहवीं, २१ भी देखिए)। "सचमुच ईश्वर जिसे चाहता है भ्रम में डाल देता है और जिसे चाहता है उसे प्रायश्चित्त करने पर अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है" (तेरहवीं, २७)। ऐसे भी वाक्य हैं जो मनुष्य के उत्तरदायित्व पर जोर देते हैं—"कोई भी जीव अपने अतिरिक्त और किसी के लिए परिश्रम नहीं करेगा और न कोई अपने अतिरिक्त किसी दूसरे का भार वहन करेगा" (दूसरी, २८६)। "जो किसी पाप का भागी होता है अपने ही कारण होता है" (चौथी, तीसरी)। "जो कोई पथ-भ्रष्ट होता है वह स्वयम् ही अपने भटकने के लिए पूर्णतः उत्तरदायी होता है" (दसवीं,१०८)। सर अहमद हुसेन का मत है कि भाग्य और प्रारब्ध इस्लाम-धर्म का अंग नहीं है (पृष्ठ १२, नोट 'द'), "रसूल ने स्पष्ट शिक्षा दी है कि पहले हमें अपनी शक्ति भर उद्योग करना चाहिए और तब शेष ईश्वर के सहारे छोड़ देना चाहिए। हम, सम्भव है, इस शिक्षा के पूर्वार्द्ध को भूल जायें और केवल उसके उत्तरार्द्ध को याद रखें क्योंकि वह उष्ण-कटिबन्ध-जन्य आलस्य से मेल खा जाता है।" (पृष्ठ ६२, नोट 'ह')। मनुष्य नियति का खिलवाड़ नहीं है। उसे उचित अथवा अनुचित मार्ग के अनुसरण की स्वतन्त्रता प्राप्त है। ईश्वर हमें

भलाई अथवा बुराई करने को बाध्य नही करता। वह केवल सत्य और पवित्रता का मार्ग दिखाता है और नियमो के पालन करने में हमारी सहायता करता है यद्यपि यदि हम उनकी अवहेलना करते है तो वह हमें दण्ड देता है। खलीफा अली का कथन है—"ऐ खुदा के बन्दो! जो कर्तव्य तुम्हे सौपा गया है उसे पूरा करो क्योकि उसकी उपेक्षा करने में पतन है। तुम्हारा सदाचरण ही मृत्यु का मार्ग सुगम बना सकेगा। स्मरण रखो कि प्रत्येक पाप तुम्हारे ऋण को बढाता है और तुम्हारे पाश को दृढतर बनाता है। दया का सन्देश आ गया है, सत्य का मार्ग स्पष्ट है, तुम्हे जो आज्ञा दी गई है उसका पालन करो, पवित्रता के साथ रहो, धर्मरत होकर कार्य करो और ईश्वर की अर्चना करो कि वह तुम्हे प्रत्येक उद्योग में सहायता दे और तुम्हारी पिछली भूलो को क्षमा करे।"* ईश्वर की आज्ञाएँ अध्यात्म-जगत् के नियममात्र है। ईश्वर उन्ही की सहायता करता है जो उसकी अर्चना करते है और वह अपनी दया उसी को प्रदान करता है जो पापी प्रायश्चित्त करता और अपनी आत्मा को अपवित्र वासनाओ से मुक्त करने की कामना करता है। खलीफ़ा अली ने कहा है—'यह न कहो कि मनुष्य बाध्य है क्योकि इसका अर्थ है ईश्वर मे निरकुश अत्याचार का प्रतिपादन करना; न यही कहो कि मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि हम उसकी कृपा और सहायता से अच्छे कार्य करने के लिए अग्रसर होते है और हम भूल केवल इस कारण करते है कि हम उसके आदेशो का ध्यान नही रखते।"†

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ४०६

† वही, पृष्ठ ४१०

इस्लाम रहस्यविहीन धर्म है। इसकी सादगी में ही इसकी शक्ति और सुन्दरता है। यहाँ न तो वे बारीकियाँ हैं जिनमें धर्म-पोथों को विशेष रुचि होती है, न वे उलटबाँसियाँ हैं जिनको दैविकता का लक्षण माना जाता है और न अध्यात्म की ढोंग ही है। यह एक प्रकृति के सहारे चलनेवाला धर्म है जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि ईश्वर सभी वस्तुओं को बनाता, पालता, वश में रखता और पूर्णता प्रदान करता है। यह उच्च ईश्वरवादी धर्म सरल चित्त और सीधे सादे व्यक्तियों के लिए बहुत ही उपयुक्त है। जहाँ तक सम्याओं का सम्बन्ध है, यह पूर्णत युक्तियुक्त है। इसमें न जाति है न पुरोहित, इसमें न बलिदान की आवश्यकता है न किसी पद्धति विशेष की और न किसी रूढिप्राप्त उपासना-विधि की जो मन को एक ईश्वर की कल्पना से विचलित कर दे। मक्का और काबा की यात्रा ही एक बाह्य साधन है जिस पर मुहम्मद ने जोर दिया है और वह भी एक विशेष सुविधा की दृष्टि से। प्रार्थना के समय मुसलमान मक्का की ओर मुख करता है क्योंकि वही वह ओजस्वी केन्द्र है जहाँ मुहम्मद की शिक्षा का पहले-पहल प्रचार किया गया था (सुरा दूसरा, १३६, १४४)। मक्का की ओर ध्यान लगाने से मुसलमान को यह अनुभव करने में सहायता मिलती है कि वह एक सम्प्रदाय का सदस्य है जो मुहम्मद को दूत मानने में एक मत है और जिसके सभी सदस्य समान आकाक्षाओं से पूर्ण, समान वस्तुओं के प्रति श्रद्धालु और समान आदर्शों के उपासक है। व्यवहार-क्षेत्र में इस्लाम की विशेषता उसका प्रजातन्त्रवाद है। यही उसके धर्म-परिवर्तन कराने के प्रचार में सफलता की कुजी है। यह अपने विस्तृत प्रागण में प्रत्येक रग और जाति के व्यक्ति को आमन्त्रित करता है। उसका विश्वास है कि ईश्वर के सेवक बनने की क्षमता सभी में है।

"प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में ईसा छिपे हुए हैं चाहे तुम उनकी सहायता करो चाहे उनका अवरोध, चाहे तुम उनको कष्ट पहुँचाओ अथवा उनके घावो का उपचार करो। यदि तुम किसी भी मनुष्य पर पडे हुए पर्दे को हटा दो तो तुम निश्चय ही उसके नीचे ईसा को छिपा हुआ देखोगे।"*

मुसलमान 'तत्त्वमसि' के निष्कर्ष को निर्भय होकर स्वीकार करता है और कम-से-कम मस्जिद में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद-भाव नही रखता। ईश्वर की दृष्टि में मनुष्यमात्र की समानता के सिद्धान्त की दुहाई देते रहने पर भी यह बात हिन्दू-मन्दिरो और ईसाई-गिरजाघरो के विषय में नही कही जा सकती। हम सब ईश्वर की सन्तान है और इसलिए आपस में भाई-भाई है—इन दो सिद्धान्तो का ध्यान रखते हुए इस्लाम की सरल शिक्षा, ससार के अनेक अन्धकार-पूर्ण स्थलो से बर्बर क्रियाओ को हटाने और करोडो व्यक्तियो को उच्चतर जीवन बिताने की प्रेरणा देने की शक्ति का प्रदर्शन कर चुकी है। इसने पिछडी हुई जातियो को वासनात्मक अनेकेश्वरवाद की भूल-भुलैया से निकल आने और शैतान की उपासना, बाल-हत्या, नर-बलि, जादू-तंत्र आदि से बचने में सहायता दी है। इसका भविष्य भी विशाल होगा परन्तु वह तब जब कि यह निस्सकोच और निर्मम भाव से सभी नये विषैले पौधो को काट दे और दैनिक जीवन म अपने दोनो मौलिक सिद्धान्तो पर आचरण करे।

इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू-धर्म ने समुचित लाभ नही उठाया।

* क्लाड फील्ड द्वारा विरचित "इस्लाम के सूफी और सन्त" पृष्ठ १५६

यह सत्य है कि चैतन्य, कबीर, नानक आदि द्वारा सञ्चालित सुधार-आन्दोलन, इस्लाम की अन्तरात्मा से काफी प्रभावित हुए हैं। हिन्दू-धर्म की अद्वैत-धारा इस्लाम के प्रसार के बाद और पुष्ट हो गई है, परन्तु हिन्दू धर्म सुगमता से काफी और सीख सकता था। दूसरों के धर्म का ज्ञान न होना अन्याय और भूल का स्रोत है। कतिपय धर्मान्ध मुसलमानों के कार्यों ने हिन्दुओं के लिए इस्लाम के आदर्शों का समझ सकना असम्भव कर दिया है। जहाँ इस्लाम हिन्दू-धर्म की सहानुभूतिपूर्ण जानकारी द्वारा बहुत सीख सकता है, वहाँ हिन्दू-धर्म भी इस्लाम से बहुत कुछ पा सकता है। एक बात तो यही है कि हिन्दू-धर्म को ईश्वर-सम्बन्धी अपूर्ण धारणाओ एव निम्न कोटि की उपासना-विधियो के प्रति कम सहृदय होना चाहिए और अधिक निश्चित ढग से उनका विरोध करना चाहिए। हिन्दू-धर्म ने यह मानने की मूर्खता की कि सत्य धीरे-धीरे प्रगट होकर रहेगा और निम्न कोटि की शिक्षाएँ अपने आप छोड दी जायेंगी। हिन्दू-धर्म का विश्वास था कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के सम्पर्क में आकर असत्य स्वयम् ही नष्ट हो जायगा। यह आशा आशा ही रह गई है। वे भी जो ईश्वर के सम्बन्ध में उच्चतम विचारो से अवगत है, बर्बरता की जघन्यतम क्रियाओ में लिप्त देखे जाते है। जो बडी सफाई के साथ अहिंसा की बात करते है, वे ही बलि देने को प्रोत्साहित करते दिखाई पडते हैं। हिन्दू-धर्म को अपनी उदारता छोड देने की आवश्यकता नही है परन्तु उसे इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अच्छे-बुरे का अन्तर स्पष्ट बना रहे और उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। हमें अपनी सस्थाओ को अधिक प्रजातन्त्रात्मक बनाना चाहिए और विरोधी मतो के झगडो, दुरूह सिद्धान्तो और उन

अत्याचारपूर्ण संस्थाओ को, जिनके कारण मनुष्य की आत्मा सचमुच पिसी जा रही है, नष्ट कर देना चाहिए। इस्लाम और हिन्दू धर्म अपने उच्चतम स्वरूप में यही शिक्षा देते हैं कि ईश्वर की सत्य और पवित्रता के साथ सेवा करना और जीवन की सभी घटनाओ में उसकी आज्ञाओं को श्रद्धा के साथ पालन करना ही यथार्थ धर्म है।

५

हिन्दू-मत और ईसाई-धर्म

ऑक्सफर्ड सभा में श्री ग्रोव्स ने जो हिन्दू-धर्म पर निबन्ध पढ़ा था* उसमें लिखा है—"स्थूलरूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दू लोग अपने प्रसिद्ध धर्म-सिद्धान्तों से प्राय उतने ही आगे बढ़े हुए हैं जितने कि ईसाई कहे जानेवाले लोग ईसाई-सिद्धान्तों से पीछे हैं।" जहाँ तक हिन्दुओं के आचरण का प्रश्न है यह निष्कर्ष बहुत उदार है किन्तु इसके मूल में जो यह भावना है कि हिन्दू-सिद्धान्त इस आचरण से कम योग्यता के हैं वह विवादग्रस्त है। जो बात हमारी समझ में नहीं आती उसे बुरा कह देने को हम सदा तैयार रहते हैं और जो लोग हिन्दू-धर्म को दूर से देखकर उस पर अपना निर्णय देना चाहते हैं वे उसकी प्रबल सजीवता से अनभिज्ञ हैं। 'स्वाभाविक धर्म-बुद्धि' के बिना हम उन महान् सिद्धान्तों को कैसे समझ सकते हैं जिनके लिए अनेक लोगों ने प्राण तक न्योछावर कर दिये तथा अब भी करते रहते हैं। यदि इसी

* माडर्न चर्च मैन, अक्टूबर, १९२२

दृष्टिकोण से हम दूसरे धर्मो को देखें तो हमें मालूम पडेगा कि सभी धर्मो मे एक ही प्रकार के मूल सिद्धान्तो पर जोर दिया गया है कि ईश्वर है, मनुष्य का ईश्वर से कुछ सम्बन्ध है तथा जो व्यक्ति ईश्वर के अनुकूल्य का अभिलाषी है उसे किसी-न-किसी प्रकार की ईश्वरानुभूति अवश्य होती है। ससार के प्रगतिशील एव सजीव धर्मों में अन्तर इतना ही है कि एक किसी बात पर वल देता है और दूसरा किसी दूसरी वात पर और इसका कारण ऐतिहासिक एव सामाजिक परिस्थितियो की भिन्नता है। यह जानकर परम सन्तोष होता है कि उदार आलोचना, वर्द्धमान प्रकृति-विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, धार्मिक चेतना का मनोवैज्ञानिक अध्ययन एव रहस्यानुभूति से प्रगाढतर परिचय के फलस्वरूप ईसाई-पण्डित धर्म-पुनर्निर्माण में संलग्न है जिससे ईसाई-धर्म हिन्दू-धर्म के निकट आ रहा है और ऐसा मालूम पडता है कि ईसाई-धर्म तथा अन्य धर्मो में जो भेद-भावना है वह समाप्त हो जायगी। इस निबन्ध में वहुत सक्षेप--एक छोटे से निवन्ध में विशद वैज्ञानिक विवेचन सम्भव नही--हिन्दू-धर्म के कुछ मूल-सिद्धान्तो का वर्णन करूँगा जिससे हिन्दू-धर्म एव ईसाई-धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचय मिल सके। हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तो से हमारा अभिप्राय उन सामान्य विचारो से है जो हिन्दू-धर्म के लम्बे इतिहास में उसके भिन्न-भिन्न रूपो में, ईश्वर, मनुष्य तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध में वरावर पाये जाते रहे है।

(१)

हिन्दू-मत से ईश्वर का रहस्य समझने म मनुष्य की वुद्धि अक्षम

है। अनेक शास्त्र-वचनो में इस बात पर जोर दिया गया है कि मनुष्य की स्थल-बुद्धि ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप को समझने में अशक्त है। परमात्मा के अनन्त गुण तथा रूप है जिनका ज्ञान हम मनुष्यो को नही है, परन्तु कोई भी हिन्दू इस निषेधात्मक निर्णय से सन्तुष्ट नही होता। वह अपने स्वरूप के उपमान के आधार पर, जो ज्ञान, भावना एवं इच्छाओ का समुच्चय है, ईश्वर की व्याख्या करना चाहता है। वह ईश्वर को शरीरयुक्त व्यक्ति, पुरुष, कहता है और उसमें विचार-शक्ति एव स्नेह आदि गुणो का सन्निवेश करता है। वह बराबर यह जानता रहता है कि ईश्वर का शरीर केवल एक परदा है, इस रूप में किसी उच्चतर वस्तु की अभिव्यक्ति हो रही है। ईश्वर का व्यक्तित्त्व मनुष्य के व्यक्तित्व की तरह सीमित तथा बद्ध नही है क्योकि हमारी गति एव जीवन ईश्वर में ही सम्भव है।

चूंकि ईश्वर के व्यक्तित्त्व में ज्ञान, स्नेह एव श्रेष्ठता का समन्वय होता है अत विश्व-सम्बन्धी उसकी क्रियाएँ सृजन, निस्तार एव न्याय की क्रियाएँ होती है, ब्रह्मा, जो ईश्वर के ज्ञान-स्वरूप का प्रतीक है, सृष्टि-रचना करता है, विष्णु, जो उसके स्नेह का द्योतक है, हमारा भरण-पोषण करता है, शिव, जो सर्वशक्तिमान् एव पूर्ण है, हमारा न्याय करता है। विश्व की व्यवस्था ईश्वर के मस्तिष्क की सूचक है। ईश्वर के नित्य विचार देश-काल के रूप में क्रमश अभिव्यक्त होते है। प्रत्येक वस्तु बराबर यह प्रयास करती है कि अपनी अपूर्णता को दूर कर सके जिससे वह उन नित्य रूपो के समकक्ष हो सके अर्थात् ईश्वर के उद्देश्य की पूर्ति कर सके। सृष्टि व्यापार एक निरन्तर विकास है जिसमें द्रव्य नवीन तथा उच्चतर गुणो को प्राप्त करते एव पुराने गुणो का परित्याग करते है। ब्रह्मा की कल्पना ईश्वर की अनन्तता एवं

नित्य सृजन-संलग्नता को प्रगट करती है। ईश्वर के सृजन का लक्ष्य यह है कि जीव अपने दिव्य मूल तथा दिव्य परिणाम की अभिव्यक्ति कर सकें। ईश्वर की सृष्टि भर में मनुष्य ही केवल अपने मूल स्वरूप को पूर्णत व्यक्त कर सकता है एवं वस्तुओ की यथार्थता को प्रदर्शित कर सकता है। जब ईश्वर ने मनुष्य की रचना की तो उसने उसे उन नियमो का ज्ञान भी दिया जिनका पालन उसे करना चाहिए, यदि वह अपने दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। भगवद्गीता (३, १०) में लिखा है--"ब्रह्म ने यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि की।" यह यज्ञ, यह धर्म-नियम, ही वह साधन है जिसके द्वारा हम ईश्वर-निर्धारित अपने आदर्श की प्राप्ति करके ईश्वरभाव को, ब्रह्म-स्वरूप को, प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु हम अपने मूल को भूलकर, ईश्वर की सृष्टि में अपने स्थान को भूलकर, यज्ञ-नियम को भूलकर स्वार्थ-साधन में पड़कर अपने को नष्ट किया करते हैं। तभी ईश्वर के स्नेह अथवा करुणा की आवश्यकता होती है। सबसे महान् ब्रह्मा ही सबको स्नेह करनेवाला विष्णु भी है। देशकाल, भौतिक जगत्, प्राणि-जीवन तथा मानव-इतिहास के पीछे रहकर अपनी करुणा एव स्नेह को सर्वत्र बिखेरकर सर्वव्यापी विष्णु मानवात्मा को पाप तथा अविद्या का सामना करने में सहायता देता है। वही हमारे जीवन का मूल आधार है, वही हमारी वह अन्तर्ज्योति है जो परम पवित्र होने के कारण पाप-कर्म में अपनी सम्मति नही दे सकती, जो स्वय चिरतन होने के कारण किसी भी क्षण-भगुर पदार्थ में अनुरक्त नही हो सकती एव जो परम स्नेहशीला होने के कारण किसी को भी अनात्मीय नही समझ सकती। वह कल्याणकारी ईश्वर है तथा इस बात का प्रमाण है कि ससार मगल अथवा शिव की ओर बढ रहा है। पर वह हमारी इच्छा के विरुद्ध कुछ

नही करता। उसका मगलमय कार्य ब्रह्मा की सृष्टि-व्यवस्था के अनुकूल ही होता है। ईश्वर उन सृष्टि-नियमो की अवहेलना करके, जिनका उसने स्वय निर्माण किया है, अपने महत्त्व को प्रदर्शित करने की इच्छा नही करता। यद्यपि विष्णु सदा ही हमारी सहायता करन को तैयार रहता है पर हमारे पाप तथा अज्ञान उसकी करुणा के महान् अवरोधक हैं। यदि हम ईश्वर पर विश्वास करके उसकी प्रार्थनामात्र करें तो भी वह सकट से हमारी रक्षा करता है। कृष्ण ने गीता में कहा है—"यदि दुराचारी भी अनन्य गति होकर हमारी उपासना करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योकि उसका निश्चय ठीक है। शीघ्र ही वह धर्मात्मा बन जायगा एव अनन्त शान्ति प्राप्त करेगा। तुम दृढतापूर्वक कह सकते हो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नही होता।"* अतएव महान् पापी के लिए भी उद्धार की आशा है। ईश्वर केवल सत्य और प्रेम ही नही है, वह न्याय भी है। वह शक्ति एवं पूर्णता की मूर्ति, भलाई एव बुराई का निर्णायक तथा कर्म का स्वामी कर्माध्यक्ष भी है। जब हम पाप करते है तो निर्णायक शिव हमें दण्ड देता है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति नही है वरन् वे एक ही अद्वितीय ईश्वर के कर्तव्य-भेद से तीन रूप कर लिये गये है। ब्रह्मा कुछ शक्तियाँ देकर हमें उत्पन्न करता है, विरोधों पर विजय प्राप्त करके उन शक्तियो का पूर्ण विकास करने में विष्णु हमारी सहायता करता है तथा शिव मगल की विजयिनी आत्मनिर्भरता का द्योतक है। जैसा तैत्तरीय उपनिषद् में लिखा है--"जो सब पदार्थों का

* गीता—६, ३०-३१

उद्भव है, जो उन्हें धारण करता है तथा जिसमें वे लय को प्राप्त होते हैं वह एक ही है।" ईश्वर ही सत्य है, वही पथ एव वही जीवन है। वह एक होने पर भी तीन बताया जाता है—एक एव त्रिधा स्मृत । सृष्टि, पालन एव न्याय विचार ये रचनात्मक विकास के तीन मुख्य रूप है।

जब हम परमात्मा को सृष्टिकर्ता, उसका रक्षक तथा न्यायकर्ता की दृष्टि से ईश्वरीय आत्म-चेतना के तीन रूपो का समुच्चय मानते हैं तो हमें मानना पड़ेगा कि वह विश्व, जिसके सम्बन्ध से ही इन कर्मो का कोई अर्थ हो सकता है, ईश्वर से अविभक्त रूप मे सम्बन्धित है। कुछ उपनिपदो, भगवद्गीता तथा आस्तिक वेदान्त के मत से यह ससार भगवान् का शरीर है। हिन्दू-शास्त्र प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से डरता नही। वह संसार से परे अपने ही अरुचिकर एकान्त में रहनेवाले किसी अलौकिक परमात्मा में विश्वास नही करता। गीता मे कृष्ण ने कहा है कि ससार का समस्त सौन्दर्य, उसका सम्पूर्ण सत्य, उसका अखिल मगल ईश्वर की अभिव्यक्ति के विविध रूप है। प्रकृति उसकी महत्ता का आवरण, उसके शब्द का व्यक्त स्वरूप एवं उसके विचारो की मूर्ति है। यह निम्न कोटि का सर्ववाद नही है। यथार्थ और आदर्श में, उत्कृष्ट और निकृष्ट में भेद किया गया है। हिन्दू-धर्म इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य अपौरुषेयता की उपलब्धि करे। इसका अर्थ है कि वस्तु-जगत् के परे भी कुछ है जिस तक पहुँचने का प्रयास मनुष्य बराबर किया करता है। मुक्ति का अर्थ यह है कि ऐसा भी कुछ है जिससे छुटकारा पाने की आवश्यकता है। यदि सब सत्य ही है तो मुक्ति की, ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता ही क्यों? ईश्वर प्रकृति का प्राणमात्र ही नही है वह तो उसके परे

उसका सृष्टा, उसका स्वामी भी है। हिन्दू-धर्म को हेगल-प्रतिपादित विश्व व्यापार तथा परमात्मा का ऐक्य मान्य नही है। ईश्वर ससार का मूल अवश्य है पर ससार का नाश होने से स्वतन्त्र है तथा उसके परे है। उसकी गति ससार में सर्वत्र है, वह सबमें व्याप्त है, सबका शासक है फिर भी स्वय सबसे अनिर्लिप्त, सबसे अलग बना रहता है।

नदी का जल उद्गम-स्थान पर ही सबसे अधिक निर्मल होता है। यह लोकोक्ति ईसाई-धर्म पर सर्वथा चरितार्थ होती है। यदि हम ईसा के जीवन तथा उनकी शिक्षा पर दृष्टिपात करें तो उस धर्म के मुख्य सिद्धान्तो का हमें स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। 'प्राचीन धर्म पुस्तक' का 'जहोवा' प्रधानत जातीय देवता ही था। यद्यपि 'होशा' तथा 'इशाया' आदि कुछ महात्मा उसे समस्त ससार का ईश्वर कहते थे पर वे भी सकीर्ण प्रान्तीय भावना से सर्वथा मुक्त नही रह सके। उनकी दृष्टि में भी यहूदी ही परमात्मा की विशिष्ट प्रजा थे तथा वे गैर-यहूदी जातियाँ, जो जहोवा की महत्ता को स्वीकार कर लेती थी तथा जिम्रान में आकर उसकी उपासना करती थी, हीन समझी जाती थी। ईसा ने ईश्वर की कल्पना से सब प्रकार की परिच्छिन्नता को दूर कर दिया। उसे ईश्वर के निर्पेक्ष रूप में खास दिलचस्पी नही थी, उसने बडे ही स्तुत्य ढग से उसके उस रूप का हमें दर्शन कराया जिसमें वह मनुष्य तथा ससार से जडित है। यद्यपि उसने ईश्वर के ज्ञान, स्नेह एव शक्ति तीनो रूपो की चर्चा की है पर परिस्थितियो के अनुरोध से ईश्वर के प्रेम पर ही विशेष बल देना पड़ा। यहूदी महात्माओ में से जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठ थे, उन्होंने भी ईश्वर के क्रोध एव न्याय पर खास जोर दिया था। इशाया ने कहा था—"जब ईश्वर पृथ्वी को

प्रबल वेग से हिला डालने को उठेगा तो उसकी महत्ता तथा आक्रोश से भयभीत होकर मनुष्य गिरि-कन्दराओ तथा भू-छिद्रो में जा घुसेंगे।" इसके विपरीत ईसा ने ईश्वर के पिता-रूप तथा हमारे प्रति उसके वात्सल्य स्नेह की कल्पना पर विशेष बल दिया है। परमात्मा सबसे पहले प्रेम है, वह हमारा रक्षक है। ईसा ने ईश्वर के दूसरे रूपो की भी उपेक्षा नही की। ससार की सुव्यवस्था उसका ज्ञान प्रकट करती है। बिना किसी पक्षपात के न्यायी तथा अन्यायी सबको ही सूर्य का प्रकाश प्राप्त है और यही बात जल-वृष्टि के सम्बन्ध में भी सच है। ईसा ईश्वरकृत विशिष्ट विधान में विश्वास नही करता।* वह उस क्षुद्र स्वार्थपरायणता को फटकारता है जो समझती है कि पापियो को कठोर दण्ड देने के लिए अथवा पुण्यात्माओ को भली भाँति पुरष्कृत करने के लिए ईश्वर सृष्टि के स्वाभाविक नियमो में उलट-फेर कर दिया करता है। पत्थरो को रोटियो में परिणत करने के प्रलोभन में वह नही फँसा। शारीरिक रोगो को जो उसने दूर किया, वह सब नियम-सम्मत ही था एव जहाँ विश्वास का अभाव था, वह स्वास्थ्य देने में असमर्थ ही रहा। ईश्वर अचल सत्य है और उसका विश्व कभी अराजक नही हो सकता। ईश्वर न्यायकर्ता भी है। ईश्वर का न्याय बाइबिल का प्रधान विषय है। आदम तथा हौआ के शाप तथा केन के प्रत्याख्यान से आरम्भ करके सेन्ट जान के सदिग्ध प्रमाण 'दर्शन' तक ईश्वर की प्रभुता तथा न्याय पर जोर दिया गया है। अन्त में ईश्वर के उद्देश्य की ही विजय होगी। यहूदी-धर्माचार्यों के ही समान ईसाइयो ने भी पाप-स्वीकृति एव ईश्वरीय करुणा की अपेक्षा परमात्मा के

* लूक १३, १-५

न्याय तथा क्रोध पर प्राय बहुत जोर दिया है।

जब ईसा के अनुयायियो ने उसे ईश्वर की पदवी पर पहुँचा दिया तो ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के तीनो रूप, अनन्तता, करुणा तथा प्रभुता, ज्ञान, प्रेम तथा शक्ति का उसमें आरोप कर दिया गया। वह ईश्वर का शब्द अथवा ज्ञान है जो इब्राहीम से पहिले भी था। वह रक्षक है जिसने कलवरी की शूली पर अपना स्नेहसिक्त हृदय खोला था। वह न्याय-कर्ता है जो उन सब लोगो को दण्ड देता है जो उसे रुष्ट कर देते हैं। बपतिस्मा देनेवाले जान का कथन है—"मेरे पश्चात् आनेवाला वह (ईसा) अपने गेहूँ को तो बटोरकर कोठरी में सुरक्षित रख छोड़ेगा परन्तु भूसे को वह प्रज्वलित वह्नि में जला डालेगा।" वह "भेडों को बकरियो से चुनकर अलग कर लेगा।"*

'त्रिमूर्ति' के सिद्धान्त ने केवल ईसा को ही ईश्वरता नही प्रदान की, प्रत्युत् 'प्राचीन धर्म-पुस्तक' में ईश्वर का जो एकागी रूप स्वीकृत किया गया था उसमें भी सुधार किया। ईश्वर स्वर्ग में स्थित केवल अनन्त शक्ति (पिता) ही नही है वरन् वह प्रेमपूर्ण हृदय (पुत्र) भी है तथा अखिल विश्वव्यापी दिव्य तत्त्व (पवित्र आत्मा) भी है। परमात्मा ससार से परे की कोई दिव्य सत्ता नही है वरन् वह अनन्त प्रेम है जिसकी धारा विश्व-कल्याण के लिए नित्य प्रवाहित हो रही है। अबेलार्ड एव एक प्रकार से अक्यूनस भी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि न्याय-निरत वृद्ध जिहोवा-शक्ति का केन्द्र पिता (शिव) है, एव पवित्र आत्मा ही व्यापक प्रेम (विष्णु) है। इस सिद्धान्त के अनुसार पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा वेदान्तिक कल्पना के सत् चित्

* मैथ्यू २५, ३१-४६

एव आनन्दस्वरूप ब्रह्म के—सत्य, ज्ञान एव आनन्द के—अनुरूप ही है। एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि त्रिमूर्ति का सिद्धान्त ईश्वर के त्रिविध स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयास है। आधुनिक ईसाई-धर्म-विज्ञान यह अनुभव कर रहा है कि ईश्वर के तीनो रूपो की एकता तभी सम्भव है जब हम उन्हें उसकी क्रिया के तीन प्रकार समझें, भिन्न-भिन्न तीन चेतना-केन्द्र नही।

प्राय: कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म म ईश्वर के न्याय पर ज़ोर दिया जाता है एव ईसाई-धर्म मे उसके प्रेम पर। यह धारणा सर्वांशत ठीक नही है। इस प्रश्न पर दोनो मतो में विशेष अन्तर नहीं है। प्रेमदेव विष्णु हमारी सहायता करने को सदा तैयार रहता है; वह तो केवल हमारे प्रयत्न की प्रतीक्षा किया करता है। वह हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारी सहायता नही करता। हमारे पाप करने पर भी वह हमारा उद्धार तभी करता है जब हम आत्मग्लानि का अनुभव करते है। ईश्वर हमारे लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है पर यदि हम पापाचरण एव स्वार्थपरायणता में ही रत रहें तथा उससे दया-याचना न करें तो न्यायानुमोदित दण्ड का विधान होगा ही। ईश्वर स्वय अपनी उपेक्षा नही कर सकता। वह सबको क्षमा कर देना चाहता है परन्तु कुछ ऐसे भी दुष्कर्म है "जिनके लिए क्षमा न तो इस लोक में और न परलोक में ही मिल सकती है।" ईश्वर के प्रेम की भी एक प्रणाली है जिसके अनुसार उसका प्रकाशन होता है। यह कहना ठीक नही कि इनसे उसकी सर्वशक्तिमत्ता परिसीमित हो जाती है। सर्व-शक्तिमत्ता विवेकहीनता नही है। ईसा को भी मान्य है कि अध्यात्म-जगत् के भी नियम है। तुच्छ तृण, चोर, गुप्त धन, मोती, पथ-भ्रष्ट भेड़, मुद्रा, दस कुमारिकाओ एवं वैवाहिक वस्त्रो की दृष्टान्त-कथाओ

का यही सकेत है कि हमारी मुक्ति अपने ही कर्मों से हो सकती है।* पाच मूढ कुमारियो ने अवसर से लाभ नही उठाया, अत वे अपने उद्देश्य-प्राप्ति में असफल रही। यदि हम क्षमा चाहते है तो हमें स्वय क्षमा करना होगा, यदि हमें जीवन की प्राप्ति अभीष्ट है तो हमें आत्म-विसर्जन करना होगा। अध्यात्म-जगत् के नियम इतने दृढ है कि ईश्वर का प्रेम भी उनका अतिक्रमण नही कर सकता। मुक्ति का उपार्जन करना होगा, उसे ईश्वर हमारे ऊपर जबरदस्ती लाद नही सकता। दूसरो के पापो के लिए स्वय दण्ड भोगने का स्पष्ट सकेत है कि ईश्वरीय प्रेम न्याय-सम्मत है। उससे सिद्ध होता है कि क्षमा करने से पहिले दण्ड-विधान आवश्यक है।

पाश्चात्य ईसाई-धर्म अनेक प्रभावो का परिणाम है। यूनान-विरोधी यहूदी-धर्म से उद्भव होने के कारण उसका झुकाव ईश्वर के दिव्य अलौकिक स्वरूप की कल्पना के समर्थन की ओर है। अरब तथा यहूदी दोनो को ही प्रकृति शुष्क तथा नीरस प्रतीत होती थी, यूनानी एव भारतीय को वह जीवित तथा दिव्य मालूम पडती थी। अतएव इन लोगो ने आध्यात्मिक तथा लौकिक में, प्राकृतिक तथा पारलौकिक में, आत्मा तथा शरीर में बहुत ज्यादा भेद नही माना। हिन्दू-कल्पना की पुष्टि विज्ञान करता है जो प्रकृति की तात्त्विक एकता पर जोर देता है। सर्वव्यापी नियम-प्राधान्य अनवस्था को पास नही फटकने देता। लोकोत्तर की सत्ता लोक के हृदय में ही है। जैसा अरिस्टाटिल ने कहा था—प्रकृति का शरीर ही आत्मा है। ईश्वर ससार का प्राण है।

* मैथ्यू १३, २४-३०, २४, ४३, १३, ४४, १३, ४५-४६, १८, १२, २५, १४-३०, २५, १-२३, २२, १-१४

इतिहास के अर्थ एव उसके विकास के सिद्धान्त का अधिकाधिक ज्ञान, धार्मिक चेतना तथा उसकी प्रगति का नूतन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सामान्य में ही दिव्य देखना चाहता है, असाधारण में नही। ईश्वर की वह कल्पना जो उसे भिन्न बाह्य नियामक समझा करती थी, वैसे ही जैसे कुम्हार घडा बनाता है, जिसका प्रचार ईसा के बाद पाल आगस्टीन, लूथर तथा कॉलविन की परम्परा से ईसाई-धर्म में बराबर रहा है—ईसा स्वय अपने धार्मिक वातावरण से काफी जकड़ा था—अब धीरे-धीरे तिरस्कृत होकर एक अधिक व्यापक कल्पना स्वीकृत हो रही है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को पूर्णत स्वीकृत करने में पर्याप्त सैद्धान्तिक नवगठन की आवश्यकता होगी तथा प्राचीन कल्पना से जड़ित अनेक धार्मिक भावनाओ का परित्याग करना होगा। यह नही हो सकता कि हम ईश्वर को सर्वव्यापक भी मानते रहें तथा चमत्कार, विशिष्ट-कृपा-पात्रता, एक की ही मध्यस्थता, मुक्ति की विकास पर नही, ईश्वरीय करुणा पर निर्भरता एव मृत्यु के अनन्तर अधिकाश मनुष्यो के निश्चित नरकवास की कल्पना से भी चिपटे रहें। ईसाई-धर्माचार्य भी अब भिन्न-भिन्न मात्रा में पूर्ण सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को अपना रहे है। यहूदी-वंशानुक्रम के फलस्वरूप ईसा के मार्ग में काफी अड़चने थी तो भी ईश्वर की सर्वव्यापकता में उसका दृढ विश्वास था। "ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है।" हिन्दुओ की ही भाँति ईसा को भी मान्य था कि ससार में घटित होनेवाले परिवर्तन दूरस्थ परमात्मा के आकस्मिक हस्तक्षेप का परिणाम नही हैं प्रत्युत् वे उसकी नियमित प्रगति का फल है। ईसा के जीवन से हिन्दुओ को प्रधान उपदेश यह मिलता है कि ईश्वर तथा मनुष्य में भेद की कल्पना करना मिथ्या एव निरर्थक है। ईसा स्वय एक ऐसे मनुष्य का उदाहरण

है जो ईश्वर बन गया है और कोई निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि कहाँ पर उसकी मानवता की समाप्ति एव ईश्वरता का प्रारम्भ है। ईश्वर तथा मनुष्य एक-जातीय ही है। "तत्त्वमसि।" तुम वही हो।

(२)

जीवन तथा इतिहास में ईश्वर की व्यापकता तथा युग विशेष में उसका अपूर्व प्रादुर्भाव इन दोनो सिद्धान्तो में पारस्परिक विरोध है। हिन्दू-धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास में ईश्वर को व्यापक मानता है। फिर भी इस निरन्तर विकास के कुछ महत्त्वपूर्ण रूपो को वह ईश्वर की उपस्थिति के विशेष परिचायक मानता है। यद्यपि ईश्वर जीवन की प्रत्येक अवस्था में व्यापक रहकर उसे नियन्त्रित करता है फिर भी वे अवस्थाएँ, जिनमें उच्च रूपो का विकास हुआ है एव श्रेष्ठ रूपो को प्रौढ़ता मिली है, ईश्वर की व्यापकता को स्पष्टतः प्रगट करती है। ये अवस्थाएँ, जिनमें उच्च एव श्रेष्ठ रूपो का विकास हुआ है, उसकी व्यापकता का स्पष्ट निर्देश करती है। ऐसी दशा में मानवेतर अवतारो का प्रादुर्भाव होता है। मानव-सृष्टि के पश्चात् नैतिकता का प्रश्न उठ खडा होता है तथा ईश्वर की निरन्तर करुणा, नैतिक व्यवस्था में क्षोभ उत्पन्न होने पर अधिक स्पष्ट हो उठती है। तब नीति के पुन सस्थापन के लिए असाधारण शक्ति से युक्त पुरुषो का प्रगट होना आवश्यक हो जाता है।* ये महान् आत्माएँ, जो

* भगवद्गीता ४, ७-८ प्रोफेसर हाग की 'ससार से मुक्ति' नामक पुस्तिका भी देखना चाहिए।

धर्म का, नीति का, अविचलित भाव से समर्थन करती है, अनित्य में नित्य का, भूसे में अन्न का सामान्य पुरुषो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट दर्शन कराती है। आध्यात्मिक महत्त्व की इन अभिव्यक्तियो को चाहे ईश्वर का अवतार कहो, चाहे मनुष्य की शक्तियो का पूर्ण विकास, क्योकि ये दोनो एक ही बात को प्रगट करने के दो ढग है। उन्हें हम ईश्वर की गम्भीरता की नूतन अभिव्यक्ति अथवा मानव-सम्भावनाओ का निश्चित विकास कहते है। धार्मिक लोग स्वभावत: उन्हें ईश्वर के सकल्प से उत्पन्न समझते है जिन्हें वह दिव्य ज्ञान से अपने उद्देश्य को सफल करने के लिए किया करता है। किन्तु भारत के उच्च दर्शन का तो यही दृढ मत है कि परमात्मा सदैव कर्म में लगा रहता है तथा प्रेम उसका साररूप है, यदा-कदा प्रगट होनेवाला आकस्मिक चमत्कार नही।

किसी-न-किसी मात्रा में सभी मनुष्य ईश्वर के स्वरूप के, उसकी शक्ति, प्रेम और सत्य के प्रतिबिम्ब होते है, पर जिन्हें अवतार कहते है वे अधिक मात्रा में विशेषत उसे प्रतिबिम्बित कहते है। राम, कृष्ण तथा बुद्ध के सम्बन्ध में भी यही सच है। ईसा भी एक अवतार है क्योकि शूली पर लटके हुए भी उसने पापियो के लिए जो प्रार्थना की थी—"पिता, इन्हें क्षमा कर दो क्योकि इन्हें नही मालूम कि ये क्या कर रहे है?"—वह अपने बच्चो के लिए ईश्वर के प्रेम का प्रतीक है, किन्तु यह कहना कि उसका ईश्वर से कोई विशेष सम्बन्ध था जिसकी प्राप्ति दूसरों के लिए असम्भव है, एक ऐसी बात कहना है जिसका समर्थन करना कठिन है। और मै दावे के साथ कह सकता हूँ कि सक्षिप्त 'सुसमाचारो' मे इसका कोई प्रामाणिक साक्ष्य भी नही है। हाँ, ईसा के पूर्ववर्ती

तथा परवर्ती युगो के अन्य लोगो की भाँति उसके सम्बन्ध में भी कुछ कथायें प्रचलित है पर ऐसे महत्त्व के विषय में उनका मूल्य ही कितना! ईसा की पूर्व सत्ता एव उसके मनुष्य रूप धारण करने का सिद्धान्त ईश्वर एव मनुष्य में एक अप्रामाणिक भेद के पोषक है जो यहूदियो के द्वैतवाद का स्मरण दिलाते है। ईसा का जीवन हमारे लिए निरर्थक होगा यदि उसमें कुछ ऐसे अपौरुषेय गुणो की सत्ता भी स्वीकार कर ली जाय जिनकी सहायता से वह पूर्णता तक पहुँच सका है। ईश्वर के पितृत्व में विश्वास हमें यह स्वीकार करने पर विवश करता है कि जो कार्य ईसा के लिए सम्भव हो सका है, वह दूसरो के लिए भी सम्भव है। ईश्वर की जो शक्ति उसे प्राप्त थी, हमारे लिए भी सुलभ है और यदि उसी की तरह हम भी प्रयत्नशील बन सकें तो हम भी अपने अन्तर्निहित परमात्मा का विकास कर सकते है। हम सभी ईश्वरीय गुणो से युक्त है तथा ईसा की ही भाँति उसके प्रेम को विम्बित कर सकते हैं, यदि हम भी उसकी-सी दृढ ईश्वर-निष्ठा अपने में भर सकें। अधिक-से-अधिक ईसा को अनेक भाइयो में ज्येष्ठ* समझा जा सकता है। ईसा में ईश्वर की अभिव्यक्ति ठीक वैसी ही है जैसी ससार के अन्य महात्माओ में। जो देवत्त्व उसमें प्रगट हुआ है, वह बीजरूप से हम सबमें विद्यमान है। यह समझना कि ईसा को छोडकर और किसी ने भी ईश्वर से उस तादात्म्य-भाव की अनुभूति नही की, शुद्ध भ्रम है। हिन्दू-धर्म के इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे साधु पुरुषो के भरे पडे है जो स्वय मुक्त हो गये थे, जिन्होने 'मैं' तथा 'मेरे

* रोमन्स ८, ९२

पिता' की एकता का अनुभव कर लिया था, जिन्होने दिव्य चक्षुओ से महान् ईश्वर का दर्शन किया था, केवल इन्द्रिय-जगत् के घोर अन्धकार के पटल को भेदकर कभी-कभी चमकनेवाली क्षणिक ज्योति-रेखाओ को ही नही, तथा वे सदा के लिए उसके आनन्द मे निमग्न हो गये। हम जितना ही ईश्वर के समीप पहुँचते जाते हैं, उतना ही मनुष्य एव ईश्वर के स्वरूप में एकरूपता बढती जाती है और जो व्यक्ति, यदा-कदा नही, निरन्तर ब्रह्म में ही निवास करता है वह कह सकता है--'मै वही हूँ।' ऋषियो एव उपनिपदो के साक्ष्य की सत्यता को ईसा एव संसार के अन्य प्रतिभाशाली साधु पुरुषो का अनुभव प्रमाणित करता है। धर्म पर बलि हो जाने-वाला अल हजाज कहता है—"मै ही सत्य हूँ, मै ही अपना प्रियतम हूँ, अपना प्रेमी भी मै हूँ। हम एक ही शरीर में निवास करनेवाली दो आत्मायें हैं। जब तुम मुझे देखते हो तो तुम उसे देखते हो, और जब तुम उसे देखते हो तो तुम मुझे देखते हो।" तल्लीनता की उस दशा में मनुष्य की आत्मा एव ईश्वर मे कोई भेद नही रह जाता। जामी कहता है--"मै और तू के लिए यहाँ अवकाश ही नही है; वे तो केवल मिथ्या एव सारहीन कल्पनायें है।"*

ईसा की श्रद्धा और भक्ति में बहकर हम कह सकते है--ईसा में ईश्वर पूर्णरूप से व्यक्त हुआ है तथा इतिहास में उसका व्यक्तित्त्व अद्वितीय है। कभी-कभी बडी अनिच्छापूर्वक इतना स्वीकार किया जाता है कि कुछ अन्य महात्माओ में भी ईश्वर की ज्योति का स्पष्ट

* ब्राउन--फारस का साहित्यिक इतिहास १, पृष्ठ ४३९

दर्शन हुआ है पर इतनी प्रभापूर्ण ज्योति और कभी और कहीं नही दिखाई पडी जितनी ईसा में। हो सकता है कि यह सच हो परन्तु यदि बुद्धि एव कन्फ्यूसस के अनुयायी अपने-अपने आदर्श पुरुषो के सम्बन्ध में ऐसा ही दावा करें तो हमें आपत्ति करने का कोई न्याय्य अधिकार नही। यदि यह कहा जाय कि बहुत बडी आध्यात्मिक अनुभूति ईसा की ईश्वरता तथा मध्यस्थता को प्रमाणित करती है तो इस प्रकार की अनुभूति का अभाव महान् मानवोद्धार-तत्पर महात्माओ में भी नही है। हिन्दुओ का विश्वास है कि प्रत्येक गुरु उद्धारक होता है क्योकि वह अपने शिष्यो में ईश्वरीय जीवन को उत्तेजित करता है तथा उनमें उस अध्यात्म-बीज को विकसित करता है जो भविष्य में सफल हो सकता है। कोई भी पुरुष, जो मनुष्य की परिच्छिन्न इच्छा का ईश्वर की अपरिच्छिन्न इच्छा से पूर्ण सामजस्य करा सके, हमारा उद्धारक हो सकता है। 'शैव सिद्धान्त' आदिक कुछ सम्प्रदायो में तो गुरु को ईश्वर ही समझा जाता है जो दया-परवश होकर मनुष्य को उन्नति-मार्ग में सहायता देने के लिए अवतरित हो जाता है। यह कहना गलत है कि ईसा की मध्यस्थता के बिना स्वर्ग नही पहुँचा जा सकता। यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि ईसा के जन्म से शताब्दियो पहले इब्राहीम स्वर्ग पहुँच चुका था।*

यह बात आसानी से समझ में नही आती कि पूर्ण मानवता के समस्त आदर्श गुण—सब दशाओ एव सब कालो के लिए उपयुक्त—ईसा में एक साथ व्यक्त हो चुके है तथा वही अन्तिम है। पृथ्वी

* लूक १६, २४

पर कोई अभिव्यक्ति अन्तिम नही कहला सकती । ईश्वर ने कभी किसी विषय में भी अपना अन्तिम फैसला नही दिया। उसे सदा ही इतनी अधिक बातें बताना शेष रह जाती है कि हम उन सबका भार सँभाल ही नही सकते।*

पश्चिम के ईसाई-धर्माचार्यों में अब एक अधिक विवेचनात्मक दृष्टिकोण जाग्रत् हो रहा है और वे ईसा की मानवता पर अधिक जोर देने लगे है। उसकी सर्वज्ञता तथा सृष्टि-रचना-चेतना पर अब अधिक जोर नही दिया जाता। दूसरी ओर इस प्रकार के वाक्यो पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कि उसका 'ज्ञान बढा', 'कष्ट झेलकर ईश्वर की आज्ञा का पालन करना सीखा', 'सकटो के द्वारा ही पूर्ण बना' और 'हमारी ही भाँति के प्रलोभनो में डाला गया।' वन-जीवन के घोर कष्ट ने उसे हमारा भाई बना दिया। वह भी हमारी ही भाँति ईश्वर के समीप अपनी दीनता का अनुभव करके कहता था—"तुम मुझे अच्छा क्यो कहते हो? अच्छा तो अकेला भगवान् है।" 'मेरा पिता मुझसे बडा है।'† उसके देवत्त्व के प्रमाण में चमत्कारो का उल्लेख नही किया जाता। विज्ञान उनमें से बहुतो को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। मानसिक चिकित्सा ने कुछ की व्याख्या भी की है। ईसा ने स्वय अपना देवत्त्व प्रमाणित करने के लिए कभी चमत्कार नही दिखाये। उसका तो कथन है कि दूसरे लोग भी ऐसे चमत्कार कर सकते है। "यदि मै शैतान की सहायता से प्रेत-बाधा से मुक्ति देता हूँ

* जान १६, १२

† मार्क १०, १८, जान १४, २८

तो तुम्हारे बच्चे किसकी सहायता से यह काम करते है?"* ईसा के साक्ष्य, दार्शनिक सत्य एव धार्मिक अनुभूति सबका एक स्वर से अनुरोध है कि अन्य भगवद्भक्त साधुओ के ही समान उसे भी समझना चाहिए क्योंकि ईश्वर ने प्रत्येक देश और युग में अपने साक्षियो को भेजा है।

(३)

मनुष्य ईश्वर के अनुरूप बनाया गया है अत वह स्वभावत दुष्ट नही होता। जैसा हम उसे पाते है वह निस्सन्देह अनेक बाधाओ से घिरा हुआ है। उसकी दुर्बलतायें स्वभावसिद्ध नही हैं वरन् स्वतत्रता के दुरुपयोग का परिणाम है। यहूदी कहानी कि मनुष्य ने किस प्रकार सर्वप्रथम परमात्मा की आज्ञा का उल्लघन करके ज्ञानवृक्ष का फल चखा जिसके फलस्वरूप ससार में सकट एव मृत्यु का आविर्भाव हुआ, इस हिन्दू-मत को पुष्ट करती है कि मूढता तथा पापाचरण के कारण उत्पन्न होनेवाले दुख, कष्ट मनुष्य स्वय रचता है यद्यपि हमें स्वतन्त्रता देते समय ईश्वर ने उनकी भी आयोजना कर दी थी। ईश्वर का सम्बन्ध हमारे साथ ठीक वैसा ही नही है, जैसा कुम्हार का मिट्टी के साथ होता है। उसने तो हमें अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है, परन्तु मनुष्य ने अपने झूठे, अनित्य रूप को ही चाहा और वह अपने सच्चे स्वरूप ईश्वर से दूर भागता रहा। फलत पाप

* लूक ६, १६

का उदय हुआ। फिर भी यह पापाचरण हमारे अमरत्व को, जिस पर हमारा वशक्रमागत स्वत्त्व है, छीन नही सकता, वह उसे केवल कुछ समय के लिए टाल सकता है।

वह सिद्धान्त, जो मनुष्य को स्वभावत पापी समझता है, मुझे भय है, सत्य नही सिद्ध किया जा सकता। हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो पुरुष भी ससार में आता है वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। "यदि मै तुममें न होता तो तुम हमारी खोज नही कर सकते थे।" गेटे का कहना है—"यदि आँखें स्वय सूर्य न होती तो उन्हे सूर्य-प्रकाश का ज्ञान ही कभी न होता। यदि हमारा हृदय दिव्य न होता तो किसी भी दिव्य वस्तु की ओर उसकी प्रवृत्ति नही हो सकती थी।"

इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृति का आदिर्भाव नही है। यद्यपि यह पूर्व जीवन-पद्धति में आकस्मिक विपर्यय अवश्य है। मुक्ति अपने भीतर के देवत्त्व के क्रमिक विकास का परिणाम है, ईश्वरीय करुणा का फल नही। मुक्ति-क्रिया के आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी आत्मा के विकास में परमात्मा बाहर की अपेक्षा उसके भीतर से ही अधिक काम करता है। दया एव विकास एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं, यद्यपि पहले में एक प्रकार के आध्यात्मिक चमत्कार अथवा शान्ति का-सा सकेत मिलता है और दूसरे में ईश्वर तथा मनुष्य की अविच्छिन्न एकता की सूचना निहित है।

अपने पैतृक देवत्त्व की प्राप्ति के लिए मनुष्य के लिए तीन प्रकार की साधना का निर्देश किया गया है जो चेतन-जीवन के तीनो अगो के अनुरूप है। उपनिषत्काल में ईश्वर को प्रधानत.

है और कहा है कि यदि उसको व्यक्त करना नितान्त आवश्यक हो तो यही कहना चाहिए कि वह जीवन ब्रह्मनगर में निवास करना है। पर रामानुज का विश्वास है कि उससे उच्चतर कुछ भी सत्य अथवा बुद्धिग्राह्य नही है।

स्वर्ग में पहुँचकर ईसा ने कहा है—"अपने देव-मन्दिर में मै उसे स्तम्भ बना दूँगा और उसका फिर आवागमन नही होगा।"* 'उसका फिर आवागमन नही होगा' ये शब्द हिन्दू-धर्म के उस सिद्धान्त से बिलकुल मिलते है जिसका कहना है कि मुक्त आत्मा फिर ससार में कष्ट उठाने नही आती—न पुनरावृत्ति। मुक्त आत्मा के लक्षण हिन्दू एव ईसाई मत में समान ही है। मुक्ति का फल ज्ञान, प्रेम तथा आनन्द है। मुक्त पुरुप को ससार के मगलमय होने मे दृढ विश्वास होता है, अत वह दुराग्रहो अथवा सिद्धान्तो के झझावात से क्षुब्ध नही होता। उसमें वह सच्चा प्रेम अथवा आन्तरिक भ्रातृभाव जग जाता है जो केवल शत्रुओ को ही क्षमा नही करता प्रत्युत् मानवता की निश्चित सेवा भी करता है। ऐसा कोई महान् धार्मिक नेता नही हुआ जिसने प्रेम के सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार न किया हो। उपनिषदो का मुख्य सिद्धान्त अहिसा है। बुद्ध का आदेश है कि जो तुमसे घृणा करे, तुम्हें उसका कल्याण करना चाहिए। बाइबिल की "बहिर्गमन" (एक्सोडस) नामक पुस्तिका मे लिखा है—"यदि तुम्हें शत्रु का बैल अथवा गधा मिले तो तुम्हें अवश्य उसे वापस लाकर उसके स्वामी के पास पहुँचा देना चाहिए।" 'वश वर्णन' के पैतालीसवे अध्याय से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि प्राचीन लोग उदार

* दिव्य दर्शन (रेवेलेशन) ३, १२

पुरुष की कितनी श्रद्धा करते थे। उस परमोत्कृष्ट स्थल को देखिए जिसमें जोजेफ अपने भाइयो को क्षमा करता है। रोमान्स को पत्र लिखते समय 'पाल' 'लोकोक्तियो की पुस्तक' का उल्लेख करता है—"यदि तुम्हारा शत्रु भूखा हो तो उसे खाना खिलाओ, अगर वह प्यासा हो तो उसे पानी पिलाओ।" ईसा के विषय में लिखा है—"जव लोगो ने उसे गालियाँ दी तो उसने गालियाँ नही दी, जब उसे कष्ट दिया गया तो उसने बदला नही लिया।"* मुक्त पुरुष के पास केवल ज्ञान तथा प्रेम ही नही होता वरन् उसके पास तो वह शान्ति भी होती है जो मनुष्यो एव परिस्थितियो की शक्ति से परे होती है और जिसका वर्णन हिन्दू किया करते है। यही वह आनन्द है जिसकी ओर ईसा ने सकेत किया था, जब उन्होने कहा था—"अपना आनन्द मै तुम्हें देता हूँ और तुम्हारा आनन्द तुमसे कोई नही छीनता।"

यदि अपने त्याग से दूसरो के पापो का प्रायश्चित्त करने के सिद्धान्त को हम न मानें, यदि हम इस बात में विश्वास न करें कि ईसा के बलिदान के फलस्वरूप ईश्वर ने मनुष्यो को फिर से अपना लिया तो हिन्दू-धर्म एव ईसाई-धर्म में मुक्ति के स्वरूप तथा साधन के सम्बन्ध में आपातत महत्त्व का भेद नही रह जाता। यह बात तो निर्विवाद है कि सभी साधुओ की तरह ईसा भी किसी हद तक हमें पापो से बचाकर ईश्वर की ओर ले जाता है, किन्तु ईसा का बलिदान लोगो के पापो का प्रायश्चित्त करे, यह अनर्गल बात है। ईसा हमारा उद्धारक है, क्योकि अपने जीवन में वह हमें उस ईश्वर-प्रेम का

* पीटर २, २३

प्रमाण देता है जो सभी सकटो एव दुर्घटनाओ में हमारा उत्साहवर्द्धन करेगा। वह हमें इस बात का निश्चय करा देता है कि ससार, शारीरिक वासना एव शैतान पर विजय प्राप्त करके हम पूर्ण बन सकते है। रिट्शी ने ठीक ही कहा है—"उसके जीवन का वास्तविक सत्य, जो हम पर प्रकट होता है, यही है कि जिस मार्ग का दर्शन उसने हमें कराया तथा जो उत्साह उसने हममें भर दिया है, उससे यह सम्भव हो गया है कि उसी की तरह हम भी ईश्वर तथा ससार से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकें।"*

(४)

कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जो हिन्दू-धर्म की विशेषता है, स्पष्टत अधिकाश ईसाई-विद्वानो को नापसन्द है। मुझे भय है कि इस सम्बन्ध में उन्हें मिथ्या-प्रचार का शिकार होना पड़ा है। मोक्ष अथवा तल्लीनता तब तक सम्भव नही जब तक वे अपने सकीर्ण व्यक्तित्त्व से चिपटे है। जब तक इस भेद-प्रवृत्ति का आमूल विनाश नही होता, ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति नही हो सकती। जब तक हम समय पर विजय प्राप्त करके पूर्ण नही बन जाते, हम इसी ससार के, आवागमन के, चक्कर में पडे रहेंगे। यह मत उतना उपाहासास्पद नही है, जितना इसे सामान्यत. बताया जाता है। यदि मोक्ष ससार से परे की स्थिति है तो जब तक हम ससार से चिपटे रहेगे, काल मे ही सीमित रहेंगे,

* समर्थन तथा सन्धि (जस्टीफिकेशन तथा रिकन्सीलियेशन), पृष्ठ ३८७

तब तक हम उस अमरता को नही प्राप्त कर सकेंगे। जब तक हम वैयक्तिक दृष्टिकोण से ऊपर उठकर सार्वलौकिक दृष्टिकोण को नही अपनाते तब तक हम सत्य तक नही पहुँच सकते। वैयक्तिक दृष्टि बनाये रखकर सार्वलौकिक दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेने का प्रयास कभी सफल नही हो सकता। नैतिक विकास का यही लक्षण है। उसका आधार व्यक्ति होता है जिसकी अपनी योजनाएँ, अपने उद्देश्य एव अपनी रुचि होती है तथा जो इसी प्रकार के अन्य लोगो से घिरा होता है। नैतिक प्रयास के द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य के समीप पहुँच सकता है परन्तु उसकी प्राप्ति कभी नही कर सकता। ससार वैयक्तिक नैतिकता का लोक है जिसका सिद्धान्त अनन्त विकास है, पूर्ण सफलता की सच्ची अनुभूति नही। कान्ट के नीतिशास्त्र में एक बडी ही उपदेशपूर्ण उपमा दी गई है। धर्म नियम का अनुरोध है कि मानव-प्रकृति के भावनामूलक अश का पूर्ण निरोध कर दिया जाय। हमारे वर्तमान अनुभव में ऐसा होना असम्भव है अत इसकी पूर्ति के लिए वह अनन्त भविष्य की कल्पना करता है। परन्तु कान्ट भूल जाता है कि असम्भव कार्य के लिए अनन्त काल भी अपर्याप्त ही सिद्ध होगा। परिच्छिन्नकर्ता अनवच्छिन्न पूर्णता की उपलब्धि कभी नही कर सकता, भले ही वह अनन्त काल तक मरता-खपता रहे। कान्ट का अनुरोध असगत है। परिच्छिन्नता अथवा ससीमता की भावना को मिटा देना ही एक उपाय है। तभी हम परिच्छिन्नता के अनन्त विकास से, जिससे कोई सन्तोष नही मिल सकता, अपनी रक्षा कर सकते है। जब तक हम सासारिक दृष्टिकोण का परित्याग नही करते, शृखला को काटकर इन्द्रिय-जगत् से ऊपर अपने को नही उठाते, देश-काल के व्यक्तित्त्व से ऊपर नही उठ

जाते, मुक्ति की कोई सम्भावना नही। यदि हम केवल नैतिकता की भेद-बुद्धि के ऊपर उठकर धार्मिक स्तर पर पहुँच सके तो यही पर, इसी समय, अनन्त जीवन को प्राप्त कर सकते है।

ससार में सर्वत्र कर्म-नियम पाया जाता है। यह धर्म के कभी नाश न होने का नियम है, जिसके होने से श्रम तथा कष्ट उठाकर हम जो कुछ प्राप्त करते है, वह हमारे लिए सुरक्षित रहता है तथा हम जिस चरित्र का निर्माण करते है, वह सचित रहता है जिससे हमें पुराना रास्ता फिर न चलना पड़े और हम सदा आगे की ओर, ऊपर की ओर, अपनी दृष्टि रख सके। कर्म-नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जब तक वह अपने निश्चित लक्ष्य तक नही पहुँचता, बराबर अवसर मिलेगा। यदि ईश्वर प्रेम है तो कोई भी सदा के लिए पथ-भ्रष्ट नही रह सकता। ईश्वर इस रक्षा के कर्म में तब तक बराबर लगा रहेगा जब तक प्रत्येक व्यक्ति के लिए ईश्वर द्वारा निर्धारित उद्देश्य की समाप्ति नही होती। मनुष्यकृत पाप उसके अमरत्व को ढक सकता है, उसका विनाश नही कर सकता। ईश्वर का प्रेम नीच-से-नीच पापी को भी उससे बिलकुल पराङ्मुख नही होने देता। यदि मृत्यु ही हमारा अवसान होता तो जिस उद्देश्य से ईश्वर ने हमारी सृष्टि की है, वह विफल हो जाता, क्योकि हममें से अधिकतर लोग पापी दशा में ही बिना पश्चात्ताप किये ही मर जाते है। यदि हम ईश्वर के उद्देश्य की विफलता नही स्वीकार करते--जिसके मान लेने से ईश्वर के स्वरूप में बहुत बडी परिच्छिन्नता को स्वीकार करना होगा--तो मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक आत्मा को, आत्म-विकास के लिए तथा अपने में ही ईश्वर को अभिव्यक्त करने के लिए उचित अवसर मिलना चाहिए। उस दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा, जिसने अधिकतर मनुष्यो के लिए नरक

की रचना कर रखी है एव जिसका ईसाई-जगत् में बडा मान है, यह मत ईश्वर के प्रेम तथा न्याय को ध्यान में रखते हुए अधिक सुसगत प्रतीत होता है। ईश्वर के प्रेमरूप की सत्यता को अधिक अनुभव करने पर ईसाई-विद्वान् भी मृत्यु के पश्चात्वाले विकास को मान लेंगे।

यह मानकर कि ईश्वर अपने दुराचारी पुत्रो का विनाश कर देता है, हम ईश्वर में उस बर्बर प्रवृत्ति का आरोप कर देते है जिसका शोध सभ्य मनुष्यो ने भी कर लिया है। यदि ईसा छोट-छोटे बच्चो को अपनी गोद में लेकर अपने श्रोताओ से कहता था कि ईश्वर को प्रसन्न करने का एक ही उपाय है कि तुम भी इन्ही की तरह बन जाओ तो हमारा यह व्यवहार कितना क्रूर होगा कि स्वर्ग के इन नागरिको को हम नरक की ज्वाला में फेंक दें।

सन्त पाल के कथनानुसार —"ईश्वर के पुत्रो की अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा में · · ···समस्त सृष्टि वेदना-विह्वल होकर दुख भरी सिसकियाँ ले रही है।" अगर कुछ पुरुष अपने को ईश्वर के पुत्ररूप में अभिव्यक्त करने से सदा के लिए वचित कर दिये गये है तो ईश्वर-निर्धारित ससार की आदर्श परिणति भग हो चुकी है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुरोध है कि हम यह विश्वास करें कि कोई भी अनन्त काल तक नरक में ही सडते रहने के योग्य नही है। वह कितना ही क्यो न भटक जाय, ऐसा नही हो सकता कि उसका उद्धार एकान्त असम्भव हो जाय। अपने पाप, मूर्खता एव स्वार्थपरायणता से कोई अपने देवत्व को कितना ही क्यो न ढक ले, उसे सर्वथा दूर कर देने की शक्ति उसमें नही है। केवल निस्सहाय शान्त जीव, वह व्यक्ति जिसका आधार अनन्त परमात्मा नही है, दूसरे शब्दो में केवल वह

मनुष्य ही जिसकी रचना ईश्वर ने न की हो, ऐसा कूडा हो सकता है जो नरक की ज्वाला मे फेंके जाने के योग्य है, वह व्यक्ति नही जो मनुष्य की दिव्य आकृति से सम्पन्न है। जीवन में वह कितना ही घोर पाप क्यो न करे, उसकी अमरता नष्ट नही हो सकती। जूडस के घृणित आवरण के नीचे बीजरूप में दिव्य शक्ति को धारण किये किसी ईसा की मुद्रा छिपी है। सन्त पाल का कहना है—"लोगो के हृदय पर एक परदा पडा है, किन्तु जैसे ही कोई पुरुष ईश्वर की ओर बढेगा, उसका आवरण हट जायगा।" 'जैसे ही कोई पुरुष ईश्वर की ओर बढेगा' इन शब्दो पर ध्यान दीजिए। इसका अर्थ है कि व्यक्ति के इतिहास में किसी-न-किसी समय इस जीवन में अथवा इसके बादवाले जीवन में, जभी वह आत्मग्लानि का अनुभव करेगा, उसे उद्धार का मौका अवश्य मिलेगा। हिन्दुओ की दृष्टि में 'डाइवज्' का दृष्टान्त पराकाष्ठा के दुख की कथा है।* आत्मग्लानि से भरकर वह एक छोटे-से अनुग्रह की, सो भी अपने लिए नही, याचना करता है पर ईश्वर उसकी प्रार्थना पर ध्यान ही नही देता क्योकि नरक में पड़े हुए व्यक्ति के लिए मुक्ति की कोई सम्भावना नही। मर चुकने के बाद, ऐसा प्रतीत होता है, मनुष्य के भाग्य का निर्णय सदा के लिए हो जाता है। यदि हम यह भी मान लें कि ईश्वर प्रेम नही है, वह कठोर न्याय ही है तथा अन्याय पर उसे घोर क्रोध आता है तो भी डाइवज् के साथ जो व्यवहार किया गया है वह न्याययुक्त नही है। यदि इस जीवन मे किसी ने अपनी त्रुटियो के लिए पश्चात्ताप नही किया तो इसके लिए हम उसे अनन्त काल तक तो दण्ड नही दे सकते। 'पुरानी धर्म

* लूक १६, १९-३१

पुस्तक' भी ईश्वर के केवल-न्याय-रूप के ऊपर उठ गई है। कुछ महात्माओ एव भजन-लेखको के विचार अधिक विशाल है। "परमात्मा दयालु एव क्षमाशील है; वह देर में क्रुद्ध होता है पर कृपा करने में बडा उदार रहता है।"* ऐसे ईश्वर से, जो क्षमा करने को सदा तैयार रहता है तथा पापी को भी फिर से शरण में ले सकता है, डाइवज् का भला हो सकता है। ईसा के ईश्वर से वह कितनी अधिक आशा कर सकता है जो अपव्ययी पुत्र के स्वागत की प्रतीक्षा में बैठा पिता ही नही है वरन् वह गडरिया भी है जो पहाडो में भटकी हुई भेडो की खोज भी करता है। यदि ईश्वर पापियो को खोजकर सीधे मार्ग पर लाता है तो डाइवज् का पश्चात्ताप उसकी प्रसन्नता का विषय होगा। यदि ईश्वर में कल्पनातीत दया है, यदि वह हमारे विचारो से बढकर, हमारी इच्छा से अधिक, कृपालु है तो क्या ऐसे भविष्य की आशा करना, जिसमें डाइवज्-जैसी आत्माएँ अपना विकास कर सकें, इतनी बडी दुराशा है कि वह सत्य न हो सके? यदि पापी होकर भी तुम अपने बच्चो को सुन्दर उपहार देना जानते हो तो स्वर्ग मे रहनेवाले तुम्हारा पिता माँगने पर तुम्हे कितना अधिक नहीं दे सकता।† यदि यह सत्य है कि जितनी क्षमा हमने पाई है, उतनी क्षमा हम स्वय दूसरो को दे नही सकते तो क्या यह मानना ठीक होगा कि परमात्मा बिना बदला लिये नही मान सकता? विकास के लिए अनन्त भविष्य निर्बाध पडा है।

यह कहने के अलावा कि परमात्मा ज़िंदा लोगो का ईश्वर है

* भजन १०३, ८

† मैथ्यू ७, ११

मुरदों का नही, ईसा ने और कोई वणन भविष्य-जीवन का नही किया। भेडो तथा वकरियो, डाइवज् तथा लेजरस आदि क दृष्टान्त-कथाओ मे जो सकेत पाये जाते है वे उस युग के स्वर्ग एव नरक सम्बन्धी उन विचारो से प्रभावित है जो उन्हें देश विशेष समझकर आनन्द तथा दुख से भरा मानते थे, अतएव वे वर्तमान प्रश्न से असम्बद्ध है। इतना स्पष्ट है कि मृत्यु और न्याय में वहुत अधिक काल का अन्तर वह नहीं मानता था क्योकि धनी अतिभक्षक तथा लेजरस को प्राय मृत्यु के अनन्तर ही दण्ड मिल गया था। पश्चात्ताप करनेवाले चोर को ईसा धोखा नही दे रहा था, जब उसने कहा था--"आज तुम हमारे साथ स्वर्ग चलोगे।"* ईसा के इन कथनो से इस शास्त्रमत का समर्थन नही होता कि मरने के बाद मृत पुरुप अपने भौतिक शरीर के साथ न्याय के लिए उठेगे। उस साम्प्रदायिक मत को मानने पर यह जानना कठिन है कि मृत्यु एव न्याय के बीच के काल मे असख्य मृत पुरुषो पर कैसी वीतती है। ईसा के चरित्र एव शिक्षा के अनुकूल स्वर्ग तथा नरक की केवल यही व्याख्या हो सकती है कि उनका सकेत मानसिक परिवर्तन की ओर है। स्वर्ग आत्मा की उन्नति का प्रतीक है और नरक उसके विपरीत। और स्वर्ग में नरक की ही भाँति कई स्तर है, भगवान् के राज्य मे अनेक राजप्रासाद है और प्रत्येक व्यक्ति अपने विश्वास की दृढता एव संचित पुण्य के अनुसार उपयुक्त स्थान पर पहुँचेगा। यही वह पद्धति है जिसमें भगवान् का न्याय चलता है--यही कर्म-नियम का सिद्धान्त है। जिस भाँति कोई व्यक्ति प्राप्त अवसर का उपयोग करेगा वैसी ही उसकी गति होगी एव उसके उपयोग

* लूक २३, १, ४३

के प्रकार एव विस्तार पर उसकी उन्नति का स्तर निर्भर होगा। उसके कथनो से इस बात का साफ पता चलता है कि ईसा को आध्यात्मिक जीवन की निरन्तरता का, मृत्यु के पश्चात् भी उसकी सत्ता का, ज्ञान था। उसे पता है कि न्याय के दिन लोगो को प्रत्येक असावधानी अथवा लापरवाही के साथ कहे हुए शब्द का उत्तर देना होगा। स्नेह एव करुणा से प्रेरित हमारे सब क्षुद्र कर्मो का—'मैं भूखा था और तुमने मुझे खाने को दिया था'—काफी महत्त्वपूर्ण परिणाम होगा।

मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का जितना कुछ ज्ञान हो सका है, यह सिद्धान्त उसके अनुकूल है। पूर्णत अथवा पवित्रता की प्राप्ति एक क्रमिक नैतिक क्रिया का परिणाम है, आकस्मिक घटना नही। साधारणत आत्म-विकास की क्रिया बराबर जारी रहती है, उसकी सीमा कहाँ होगी, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती है। प्रगति एव विकास ही व्यक्तित्त्व का नियम है और इसके लिए समय तथा अवसर दोनो ही आवश्यक है। कर्म-नियम एक विशाल क्षेत्र है, जिसमें आत्म-विकास के लिए पर्याप्त अवकाश होगा।

यह नियम इस बात पर ठीक ही जोर देता है कि हमारा समस्त आचरण ही हमारे भविष्य का निर्णय करता है। बपतिस्मा-जैसी एक अकेली घटना मनुष्य के भाग्य का निर्णय नही कर सकती। यदि अन्य परिस्थितियाँ समान है तो बपतिस्मा लेकर शीघ्र ही मर जाने वाला बच्चा तथा बिना बपतिस्मा के ही चल बसनेवाला शिशु प्राय एक समान ही भविष्य के अधिकारी होगे। यह जान कर ईसा को महान् खेद होगा कि उसके प्रेम सन्देश के अनुसार श्रद्धा में प्रमाद के कारण, दूसरे धर्म में उत्पन्न हो जाने की दुर्घटना के कारण अथवा किसी चमत्कारपूर्ण सस्कार के अभाव के कारण किसी

को भी अनन्त काल तक नरक-यातना भोगनी होगी। उसका भाग्य तो उस आध्यात्मिक विकास पर निर्भर होगा, जिसके प्रयास में उसे सफलता अथवा असफलता मिली है।

कर्म-नियम के विरुद्ध यह कहा गया है कि वह बहुत कुछ अचेतन यत्र से मिलता-जुलता है और ईश्वर के प्रेम के साथ उसका ठीक मेल नही खाता। हिन्दू-शास्त्र ईश्वर की उस कल्पना को बिलकुल पसन्द नही करता जो उसे निरकुश बताती है और यह मानती है कि वह जब चाहता है तो किसी को पापी तथा किसी को साधु बनाकर निसर्ग-नियम में हस्तक्षेप किया करता है। यह कहना कि ईश्वर का प्रेम नैतिक आचरण से विरुद्ध नही होता, कालविन के सिद्धान्त को मान लेना है जो मनमाने अविचारपूर्ण धर्म-नियमो का उपदेश किया करता था और कहता था कि ईसा के भक्त कुछ भी क्यो न करें, सद्गति पावेंगे तथा जो उसके भक्त नही है वे कुछ भी क्यो न करें नरक में पडेंगे ही। लोगो के आचरण की उपेक्षा करना ईश्वर के लिए सम्भव नही है, यद्यपि उसका प्रेम इतना विशाल है कि जो व्यक्ति भी ठीक दिशा में कदम उठाता है, उसकी सहायता किये बिना वह नही रह सकता। आध्यात्म-जगत् के नियमो का अनुरोध है कि पश्चात्ताप के बाद पापो के लिए क्षमा मिल जाना चाहिए तथा पूर्ण आत्म-समर्पण के पश्चात् ईश्वर की दया होनी ही चाहिए। धर्म नियम तो ईश्वर का प्राण ही है अत यह आवश्यक है कि हमारे भावी अनुभव हमारे कर्मों की नैतिकता पर आधारित रहें। ईश्वर की दृढता और उसके प्रेम में कोई विरोध नही है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर का न्याय कही बाहर से नही आता, वह तो भीतर से ही प्रेरित होता है। हम अपने कर्मों के ही द्वारा उठते अथवा गिरते हैं। ईश्वर के नियमों

से छूटना सम्भव नही, वे हमारे हाथ और पैरो से भी अधिक समीप है और वास्तव में हम सबका मूल है। कर्म-नियम का अर्थ यह है कि जो ईश्वर-प्रणीत नियमो का उल्लघन करेंगे वे उस उल्लघन के फलस्वरूप अवश्य दु ख भोगेंगे यद्यपि पश्चात्ताप एव सुधार की सम्भावना प्रत्येक स्थिति में रहेगी।

हिन्दुओ के इस कर्म-नियम को यान्त्रिक मानकर—क्योकि इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मो का पूरा फल भोगना पडता है—जो लोग इसकी निन्दा करते है, वे एक अनोखे ढग से उससे बुरे इस नियम को स्वीकार कर लेते है कि पापी के अतिरिक्त किसी दूसरे के उन पापो का फल भोग लेने से काम चल जाता है। ठीक हो चाहे गलत, यह बात तो समझ में आती है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे के पाप का फल भोगे पर क्या तब स्थिति यदि घृणित नही तो कम-से-कम लोक-विरुद्ध नही हो जाती जब पापी परम सन्तोष के साथ यह निश्चय कर लेता है कि उसके पापो का दड दूसरा भोगे, यह सिद्धान्त विचार-हीन पुरुषो को इस धोखे में डाले रहता है कि वे जितना चाहें पाप करते रहें क्योकि किसी-न-किसी दिन ईश्वर एक दूत अथवा अपने पुत्र को अवश्य भेज देगा जो सबके पापो का दड भोग लेगा। रूढिवादी ईसाई-मत ईसा के कष्ट एव मृत्यु को जिस रूप म देखता है, वह तभी सम्भव हो सकता है जब हम ईश्वर को एक सुन्दर तराजू मान लें। हिन्दू-मत में ईश्वर का प्रेम तथा मनुष्य का यत्न दोनो ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक माने गये है।

यह प्रसिद्ध ही है कि कर्म नियम की उद्भावना मनुष्यो की विषमता को समझाने के लिए की गई है। अनुभव से ज्ञात होता है कि सब मनुष्य बुद्धि अथवा बाह्य परिस्थितियो में समान नही होते। मानवात्मा के

निर्माण में वश-परम्परा तथा वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि कालविन की ही भाँति हम भी विश्वास करते हैं कि ससार का नियन्ता कोई स्नेहशील, विचारवान् व्यक्ति है तो हमे मानना ही पडेगा कि यह विषमता आकस्मिक, केवल घटनाजात, नही है। यहाँ तक तो हिन्दू समझ सकता है; किन्तु जब कालविन इस निर्वाचन अथवा चयन के सिद्धान्त को सामने रखता है कि ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा ने किसी को स्वर्ग तथा किसी को नरक के लिए चुन रखा है तो हिन्दू उसके नेतृत्व को सन्देह की दृष्टि से देखता है और यह जानना चाहता है कि क्या इससे अधिक सयुक्तिक समाधान नही हो सकता। ईश्वर तथा मनुष्य के वीच ऐसे जड-सम्बन्ध को मान लेने की कोई आवश्यकता नही। कर्म का सिद्धान्त इस गुणवैचित्र्य को परमात्मा की सयत इच्छा पर आधारित मानता है। ईश्वर के स्वरूप में किसी सर्वथा विचारहीन तत्त्व का समावेश करने के लिए हिन्दू तैयार नही। उसका विश्वास है कि एक ही वर्द्धमान उद्देश्य विश्व भर के विकास में अभिव्यक्त हो रहा है और यदि कुछ लोग दूसरो की अपेक्षा अधिक सुगमतापूर्वक ईश्वर के कृपापात्र वन सकते है तो केवल इसीलिए कि पहले जन्म में वे काफी प्रयास कर चुके है। सन्त पाल का कथन है—"आदमी जो बोता है वही काटता भी है।" कर्म-नियम इस बात को मान लेता है तथा थोडा और आगे वढकर कहता है—"जो कुछ भी आदमी काटता है उसे उसने अवश्य वोया होगा।" मेरा ख्याल है कि ईसा को इस व्यापक सकेत का ज्ञान था। पक्षाघात के रोगी से जब उसने कहा था—"पुत्र, हिम्मत बाँधो, तुम्हारे पाप क्षमा कर दिये गये है" तो उसका यही अभिप्राय था कि उसकी पीडा उसके पूर्व पापों का परिणाम थी। हो सकता है कि पापी उन्हे भूल गया हो पर ईश्वर नहीं

भूला। उसके पापो के परिणाम उसके व्यक्तित्व की गम्भीरता में छिपे पड़े थे। आधुनिक मनोविज्ञान का कहना है कि हमारे पूर्व कर्म अचेतन मन में सग्रहीत रहते है। ईसा ने कर्म-नियम-जैसे सिद्धान्त की कल्पना करके रोगी से कहा था—"अब पाप न करना नही तो इससे बुरी दशा तुम्हारी हो सकती है।" (सन्त जान ५, १४)। हमारी विपत्तियाँ किसी न्यायाधीश की मनमानी आज्ञा नही है जो हम पर लाद दी जायँ, भले ही हम उसके अधिकारी न हो। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी जो विपत्ति हमारे गले मढ दी जाती है, वह हमारे ही पूर्व पापो का पारिश्रमिक है। हम उसे सम्मान अथवा गर्व का विषय नही समझ सकते। यदि ऐसा होता तो नरक-यातना भोगनेवालो के लिए लजाने की बात ही कौन-सी थी। ईसा विपत्ति की यही उपयोगिता समझता था कि वह हमें पाप से रोके तथा धर्म में प्रोत्साहित करे।

स्वेच्छापूर्वक जो कष्ट उठाया जाता है उस पर उपर्युक्त कथन नही घटित होता। वह कष्ट तो आत्म-शुद्धि के लिए तब तक उठाया जाता है जब तक हमें अमर जीवन की प्राप्ति न हो जाय। जब हम पूर्ण हो जाते है तो हम भी ईश्वर के निरपेक्ष भावो के सृजन एव रक्षण में सहायक हो जाते है। उसके उपरान्त सभी कष्ट स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है यद्यपि वह कष्ट सामान्य कष्ट से सर्वथा भिन्न होता है। मानव-जाति की रक्षा के लिए शिव ने विषपान किया था। महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध ने मनुष्यो के कल्याण के लिए निर्वाणपद को त्याग दिया था। पूर्व पाप के दण्डरूप तथा उसी प्रकार के प्रतीत होनेवाले, महात्माओ द्वारा स्वेच्छा से अगीकृत कष्ट के अलावा एक तीसरे प्रकार का कष्ट भी होता है जिसे हिन्दू-शास्त्रो में तप कहा गया है। तप उस कष्ट को कहते है जो मुक्ति-पथ के पथिक

आत्म-विकास अथवा विश्व-कल्याण के लिए स्वत. अपने ऊपर ल लेते है। यह बडा ही कठिन काम है और ससार के बड़े-से-बड़े महात्मा उससे घबरा गये है। जेथसी मीन का स्थल देखिए। मुक्ति पाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मार्ग यही लोक-हित के लिए कष्ट उठाना है। सन्यासि सम्राट् शिव अपने भक्तो से कठोर सन्यास एव आत्म-विसर्जन की आशा करते है, वैसे ही जैसे ब्रह्मा ध्यान और विष्णु भक्ति चाहते है। यदि कोई पापमुक्त होकर ईश्वर का पुत्र बनना चाहता है तो स्नेह से प्रेरित होकर विश्व के लिए कष्ट उठाने का मूल्य उसे चुकाना ही होगा। ईसाई जिस स्वस्तिक-चिह्न को इतना महत्त्व देते है उससे हिन्दू जरा भी नही चिढते और न उसे वे किसी प्रकार की अडचन ही मानते है। वह तो ईश्वर की वास्तविक करुणा का प्रतीक है। वह प्रगट करता है कि किस प्रकार प्रेम का आधार आत्म-विसर्जन ही है। हिन्दू-धर्म के इतिहास में अनेक ऋषियो तथा बुद्धो के दृष्टान्त है जिन्होने तपस्या को भी पवित्र कर दिया है और जिन्होने लोक-हित के लिए आवश्यकता से अधिक कष्ट सहन किया है। यह स्वेच्छापूर्वक अगीकृत किया कष्ट पूर्व पापो का परिणाम नही है।

बहुत दिनो से ईसाई-धर्माचार्य इस अनन्त दड-विधान के प्रश्न से परेशान है तथा उन्होने भावी विकास के लिए कई योजनाएँ प्रस्तुत की है। १४२६ मे फ्लोरेन्स में जो सभा हुई थी, उसने 'परगेटरी' का समाधान निकाला। 'परगेटरी' न तो स्वर्ग है और न नरक। पुजारी फेरार ने एक बीच की परीक्ष्यमाण स्थिति का निर्देश किया है जिसमें जीवो को पश्चात्ताप करने का अवसर मिलेगा। कुछ धर्म-शास्त्री पीटर (३, १६; ४, ६) के अस्पष्ट वचनो के

आधार पर मृत्यु तथा अन्तिम न्याय के बीच में एक मध्यमा स्थिति को स्वीकार करते है। यद्यपि वर्तमान तथा भावी जीवन में अविच्छिन्न सम्बन्ध माननेवाले अनेक है पर पूर्व जन्म का समर्थन करनेवाले नही के बराबर है। कुछ समय के बाद पाश्चात्य विद्वान् भी हिन्दू-धर्म के उन मूल्यवान् अशो को समझेंगे जो अब अनेक अनर्गल पौराणिक कथाओ में दब-से गये है और जिनके अक्षरशः सत्य होने में किसी भी हिन्दू का विश्वास नही है।

(५)

भारतीय ईसाई, जो उसी वातावरण में रहते है जिसमें हिन्दू रहते है तथा जो भारत के अतीत से सुवासित है, ईश्वर की सर्व-व्यापकता से भरे है। उनके लिए इस सदिग्ध सिद्धान्त को मानना दिन दिन कठिन होता जा रहा है कि ईश्वर बडा कठोर है तथा उसमें अलौकिक शक्ति है जिससे वह अपनी अवज्ञा करनेवालो को घोर दड देता है, जिस सिद्धान्त के अनुसार ईसा परमात्मा का भी परमात्मा है जो मनुष्य जाति की पाप-शान्ति के लिए शूली पर चढा एव जो मरकर जी उठने की चमत्कारी घटना को एक बहुत बड़े पैमाने पर दोहरानेवाला है, जब वह फिर शान के साथ उस ससार में अवतरित होगा जिसने पहली बार उसकी अवहेलना की थी। विचारशील, विशेषत नई पीढी के, भारतीय ईसाई मानते है कि ईश्वर सब मनुष्यो में तथा समस्त ससार में मौजूद है। यद्यपि ईसा ने अपने को इतना पूर्ण कर लिया था कि अन्य पुरुषो की अपेक्षा उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति अधिक सुस्पष्ट हो उठी थी। उनका

मत है कि ईसा का जीवन, जिसने भगवान् के उस मगलमय प्रेम को स्पष्ट कर दिया जिसे पुरानी धर्म-पुस्तक में भुला दिया गया था यद्यपि इशाया आदिक कुछ महात्मा उससे अनभिज्ञ न थे, ससार की वर्तमान परिस्थिति में विशेष उपयोगी है। वे विश्वासपूर्वक आशा करते है कि भद्रता तथा ईसाई-धर्म सम्मत प्रेम—ईसाई-धर्म-सिद्धान्त नही—के क्रमिक प्रसार से पृथ्वी पर सतयुग अवश्य आवेगा। उन्हें बहुत बुरा मालूम पड़ता है जब उनके विदेशी सहधर्मी, जिन्हें परम्परा-प्राप्त नियमो में शिथिलता आ जाने के दुष्परिणामो का कोई ज्ञान नही, हिन्दुओ के अमूल्य सिद्धान्तो, जैसे ईश्वर की सर्वव्यापकता, अहिसा, कर्म तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में झूठा प्रचार करके उनका उपहास करते है। आज भारत का ईसाई-धर्म हिन्दू-सिद्धान्तो से प्रभावित हो रहा है। वह हिन्दू-सिद्धान्तो को सुन तथा समझ कर उनका अनुकरण कर सकता है अथवा उसकी बातो को अनसुनी करके उससे दूर रह सकता है। परन्तु लक्षणो से तो यही प्रतीत होता है कि वह ठीक ही पथ चुन रहा है। वह यह प्रयास कर रहा है कि हिन्दू-धर्म के उत्तम सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म के अच्छे तत्त्वो को मिला दिया जाय और यदि वह इसमें सफल होता है तो इस हिन्दू-प्रभावित ईसाई-धर्म से केवल भारतवर्ष का ही लाभ नही होगा वरन् ससार का आध्यात्मिक जीवन अधिक समृद्ध हो जायगा।

६

बौद्ध-धर्म

बौद्ध-धर्म के सस्थापक गौतम वुद्ध की गणना ससार के महापुरुषो में की जाती है। उनके सम्बन्ध में स्वभावत अनेक दन्त-कथाएँ प्रचलित हो गई है और ऐसे लोग भी है जिनका दावा है कि उनका समस्त जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक कल्पना ही है। परन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि बुद्ध भोग-विलास के वातावरण मे जन्म लेनेवाले एक राजकुमार थे जिन्होने यौवन में ही ससार छोडकर एकान्तवास अपना लिया था तथा ध्यान एव चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया था।

वह बौद्धिक सक्षोभ का युग था। प्रचारको की बौद्धिक विलक्षणता एव प्रवृत्ति से उत्पन्न अनेक सिद्धान्तो तथा कल्पनाओ से वातावरण पूर्ण था। कुछ उन्हें स्वीकार करते थे, कुछ उनका प्रतिवाद करते थे*। इस सघर्षपूर्ण उत्साह एव विरोधी दर्शनो को देखकर बुद्ध

* ब्रह्मजाल सुत्त देखो

ने निश्चय कर लिया कि दार्शनिक गवेषणा व्यर्थ है। उन्होने देखा कि आचरण-क्षेत्र में कर्म-काड को सस्कार-पद्धति ने नैतिक कर्तव्य-पालन का स्थान ले लिया है। धार्मिक क्षेत्र में भी असभ्यता-युग के अन्ध-विश्वास फिर से सर उठा रहे थे एव स्वार्थपरायण पुरुष अपने हित-साधन में उनका उपयोग कर रहे थे। बुद्ध ने बताया कि बिना पुजारियो की मध्यस्थता अथवा ईश्वर की चर्चा के भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकते है। लोक-कल्याण-साधन अथवा शुद्ध आचरण से मोक्ष मिलता है, अनिश्चित फल पानेवाले दुराग्रहो को मानने अथवा क्रुद्ध देवताओ की रोष-शान्ति के उद्देश्य से रहस्यपूर्ण क्रियाओ के सम्पादन से नही। दार्शनिक चिन्तन की ओर से विरक्ति, धर्मशास्त्र में अनास्था तथा नैतिक आचरण में अनुरक्ति ही बुद्ध के उपदेशो की विशेषता है।

दर्शन

जिन चार आर्यसत्यो का बुद्ध ने उपदेश दिया है वे है—दु ख है, दु ख का कारण है, दु ख का निरोध किया जा सकता है, दु ख-निवृत्ति का मार्ग है। दु ख का कारण यह है कि ससार क्षणभगुर है। सब पदार्थ अपने को व्यक्त करने के प्रयत्न में सदा लगे रहते है। इसी उद्भव एव लय का नाम ससार है। पदार्थ की प्रत्येक दशा, वह चाहे एक क्षण तक रहे और चाहे एक हजार वर्ष, उद्भव कहलाती है। बुद्ध ने मनोव्यापार को क्षणिक एव मनभिन्न वस्तु-जगत् को अनित्य बताकर उनमें भेद किया है परन्तु परवर्ती बौद्ध दार्शनिक समस्त सृष्टि को क्षणिक ही मानते है। प्रत्येक व्यापार-शृखला की एक कड़ी

है, विकास-प्रवाह की एक क्षणिक दशा ह और इस प्रकार की सब कड़ियाँ मिलकर ही जगत् बनता है (धर्म-धातु)। वस्तुएँ तथा आत्माएँ परिणाम एव व्यापार कहलाती है।

यदि हम व्यापार के स्थान में वस्तुओ अथवा पदार्थों की चर्चा करते है तो हम अस्तित्वहीन पदार्थों की चर्चा करते है। द्रव्य तथा गुण, सम्पूर्ण तथा अवयव, कारण तथा परिणाम आदिक न्याय-सम्बन्धो के द्वारा हम स्थिर प्रतीत होनेवाले विश्व की रचना कर लेते है। ये सम्बन्ध विचार-जगत् के लिए सत्य ह, वस्तु-जगत् के लिए नही। स्वभावत हम वस्तुओ के आधारस्वरूप किसी नित्य द्रव्य की कल्पना कर लेते है, यद्यपि वह नित्य-आधार केवल कल्पना का गढा हुआ होता है। हम कहते है—वृष्टि हो रही है, किन्तु 'वृष्टि' पदार्थ की सत्ता कहाँ है? गति को छोडकर और कुछ भी तो नही है। क्रिया है, पर कर्ता कही नही है। हम निरन्तर प्रवाह को वस्तुओ की परिवर्तन-रहित एकरूपता समझते है। शिशु, बालक, युवक, प्रौढ तथा वृद्ध एक ही है। बीज और वृक्ष एक है। एक के बाद दूसरी स्थिति इतनी शीघ्रतापूर्वक आ जाती है कि हम उसे अखड एकता समझने है, उसी तरह जैसे जलती हुई लकड़ी को घुमाने से हमें एक अखड वृत्त का भ्रम होने लगता है। एक बडी उपयोगी प्रथा के अनुरोध से हम भिन्न-भिन्न समुदायो को विशिष्ट नामो से पुकारने लगते है। नाम की अखडता के कारण हमें उस नाम से युक्त पदार्थ को ही अखड एक समझने का भ्रम होता है।

स्थायी द्रव्य के अभाव में ससार की निरन्तरता को सार्वभौमिक कारणवाद के सिद्धान्त के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। वस्तु तो केवल किसी धर्म का नाम है, किसी कारण अथवा दशा की सज्ञा है।

"उसकी उपस्थिति में यह होता है, उसके उत्पन्न होने पर इसकी उत्पत्ति होती है, उसके अभाव मे यह नही उत्पन्न हो सकता, उसका अन्त होने पर इसका भी अन्त हो जाता है।" (मज्झिम निकाय ११, ३२) यह 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त अथवा सापेक्ष-कारणतावाद कहलाता है। परिवर्तन होनेवाली किसी वस्तु की सत्ता नही है, केवल परिवर्तन स्वयमेव घटित हो रहा है। विश्व-शृखला विनाश एव तत्पश्चात् नूतन सृष्टियो की शृखला नही है। एक दशा अपनी 'पच्छायशक्ति'--सृष्टिशक्ति--अपने पश्चात् आनेवाली दशा को दे जाती है। अतीत तथा वर्तमान एक सन्धि म आबद्ध हो जाते है और जब हम प्रकृति का बहिरग विवेचन करते है तो उसे 'पूर्व' तथा 'पर' की विभिन्न स्थितियो की एक निरन्तर परम्परा के नाम से अभिहित करते है।

यह प्राण तथा गति के जीवन का ससार एक नियम के अधीन है। जगत्-व्यापार में इस नियम की उपस्थिति ही सकट के समय मनुष्य को आशा बँधाती है। इस जगत्-व्यापार का विशिष्ट रूप कैसा है, इस सम्बन्ध मे अनेक मत है। अधिकतर लोग उसकी सत्ता से तो नही इनकार करते पर उसे शक्ति मानते है। कभी-कभी ऐसे सकेत भी मिलते है, जिनमे यह वस्तु-जगत् चित्त का विकारमात्र बताया गया है। "चेतना का विनाश कर देने से इस अशेष विश्व का अवसान हो जाता है।" यह जगत् अविद्याजनित है, ज्ञानी के लिए उसकी सत्ता नही। ससार के नाना पदार्थ कभी-कभी निर्गुण की अभिव्यक्ति समझे जाते है। जब वास्तविक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो सश्लिष्ट पदार्थ समाप्त हो जाता है, केवल मूल तत्त्व शेष रह जाते है। इस अभिव्यक्ति के ससार का विश्लेषण करना बुद्ध को अभीष्ट

नही था। उनका उद्देश्य इसके जाल से मुक्त होन म सहायता देना था। "जो लोग धधकती आग में जल रहे हों उन्हें आग की मीमासा करने की आवश्यकता नही, उन्हें तो येन-केन-प्रकारेण उससे बच निकलना है।"

प्रत्येक जीव एक मिश्रित द्रव्य है जिसके घटकावयव, नाम एव रूप नित्य बदलते रहते है। वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान मन के अग है। वेदना रागात्मक अश है, सज्ञा तथा बुद्धि ज्ञान से सम्बन्धित है एव सस्कार चेष्टा से। बुद्धि कभी-कभी जीव का काम करती है। किसी नित्य जीव अथवा आत्मा का कोई प्रमाण नही मिलता। "जब कोई मनुष्य कहता है 'मै' तो उसका सकेत या तो अवयव-समष्टि की ओर होता है या उनमें से किसी एक की ओर, और इस भाँति उसे वह 'मै' समझकर अपने को धोखा दिया करता है।" (सयुक्त नि० ३, १३०)। बुद्ध व्यावहारिक आत्मा के घटकावयवो की बात करके ही चुप हो जाते है, वे नित्य आत्मा का स्पष्ट विरोध नही करते। नागसेन नित्य आत्मा को न्याय-विरुद्ध कल्पना कहता है तथा मानवात्मा को मन की एकीकरण-शक्ति के द्वारा कल्पित एव जटिल भाव बताता है। जिस प्रकार अनेक गुणो के सग्रह का नाम शरीर है उसी प्रकार हमारी समस्त मानसिक दशाओ का समुच्चय ही आत्मा कहलाता है।

आत्मा की कल्पना म पुनर्जन्म को सार्थक बनाने के लिए पर्याप्त स्थान है। व्यक्ति असम्बद्ध घटनाओ की अस्त-व्यस्त शृखला नही है वरन् वह एक सजीव निरन्तरता है। दुबारा जन्म लेनेवाला मनुष्य वही मृत मनुष्य नहीं होता पर वह उससे सर्वथा भिन्न भी नही होता। न तो वे पूर्णत एक ही हैं एव न सर्वथा भिन्न। निरन्तरता भी है

तथा उसके साथ ही नित्य परिवर्तन भी है। हमारा प्रत्येक अनुभव उस दूसरे अनुभव क्षय अथवा दशा की ओर ले जाता है, उसमे परिणमित अथवा समाप्त हो जाता है, जिसमें सम्पूर्ण अतीत सन्निहित रहता है।

आचरण-शास्त्र तथा धर्म

जीवन का लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। जो कर्म इसमे सहायक है वे अच्छे समझे जाते है। बौद्धो का आचरण-शास्त्र आर्य अष्टागिक मार्ग कहलाता है जिसके आठ अग ये है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एव सम्यक् समाधि। यह मध्यम प्रतिपदा अथवा मध्यमार्गीय धर्म कहलाता है। इसमें अत्यधिक तप तथा अत्यधिक भोग दोनो का ही परित्याग करके बीच का रास्ता--मध्य मार्ग—स्वीकृत हुआ है। इसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण मानसिक जीवन को रूपान्तरित कर देना है, बौद्धिक भावनात्मक एव क्रियात्मक सभी क्षेत्रो को नवीनता प्रदान कर देना है।

बुद्ध के समय में वर्ण-व्यवस्था में काफी अनवस्था उत्पन्न हो गई थी। उन्होने ब्राह्मणत्व को जाति के स्थान मे कर्म पर–आचरण पर–निर्भर बताकर इस सस्था को काफी दुर्बल बनाया। परन्तु वे समाज सुधारक नही थे। उनका मुख्य उद्देश्य धर्म था। यद्यपि नियमतः सभी उसमें सम्मिलित हो सकते थे परन्तु यथार्थत उच्च वर्णो तक ही उनका धर्म सीमित था। उन्होने गृह्य-सस्कार-पद्धति में कोई हस्तक्षेप नही किया और वे वैदिक पद्धति के अनुसार बराबर चलते रहे। बुद्ध को

आनन्दोपलब्धि के रहस्य का उद्घाटन नहीं करना था प्रत्युत् लोगों को उस अनुभव में लगा देना था। निर्वाण शब्द का अर्थ 'बुझना' 'अथवा शान्त' होना है। अतः उष्ण वासना के बुझने को, वासना, घृणा एवं अविद्या की अग्नि के शान्त होने को, निर्वाण प्राप्त करना कहते हैं। "हमें निर्वाण को शून्य नेश अन्धकार नहीं समझना चाहिए। "वह जो विश्वास, शान्ति, उद्वेगाभाव, आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता तथा उत्साह से पूर्ण एक नित्य जीवन का नाम है" (मिलिन्द २,२६)। यमक ने निर्वाण को जो विनाश बताया था उसे अधर्म बताकर उसका प्रतिवाद किया गया है। (सयुक्त निकाय ३,१०२) ज्ञानातीत होने के कारण निर्वाण के स्वरूप का वर्णन करते समय निषेध-वाक्यों का प्रयोग किया जाता है।

हमें बुद्ध-धर्म को बिलकुल नवीन, अतीत-आधार-रहित, मानने की आवश्यकता नहीं। यह तो उसी विचार-धारा का बाद का रूप है जिसका पूर्वरूप उपनिषदों में प्रतिपादित हुआ है। चरम सत्य, मोक्ष का स्वरूप तथा आत्मा की नित्यता आदि प्रश्नों का उत्तर बुद्ध ने नहीं दिया है। ये ऐसे विषय हैं जिन्हें स्थगित कर दिया गया है तथा जिन पर विचार करने की अनुमति बुद्ध नहीं देते। मालुक्य के प्रश्नों का उत्तर देने से उन्होंने यह कहकर इनकार कर दिया कि वे हमें व्यावहारिक जीवन में कोई सहायता नहीं देते (वच्छ प्रश्न भी देखो)। दार्शनिक प्रश्नों पर उनके मौन साधन के भाँति-भाँति के अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ उनके प्राचीन अनुयायी एवं आधुनिक व्याख्याकार इसे निषेधसूचक मानते हैं। उनका कहना है कि बुद्ध किसी भी भौतिक अथवा समष्टि विषयक चरम सत्ता का अस्तित्व नहीं मानते थे। इस विचार के अनुसार निर्वाण शून्य है। कभी-कभी कहा जाता है कि बुद्ध

ने इस विचार को पल्लवित करके इसीलिए लोगो के समक्ष नही रखा कि इससे कही वे भडक न जायँ। यह विचार बुद्ध के दर्शन को असम्बद्ध तथा उनके चरित्र को सन्देहजनक बना देता है। बुद्ध के विधि-सूचक कुछ ऐसे वचन भी है जिनकी सगति इस निषेध-मूलक बुद्धिवाद से नही बैठती। शुष्क मत बुद्ध के समकालीन देवोपासक मनुष्यो को कैसे पसद आता। दूसरो का कहना है कि उनका मौन उनके अज्ञान को छिपाये रखने का आवरण है। वस्तुओ की यथार्थता का ज्ञान उन्हें नही था। यह मत इसलिए असगत प्रतीत होता है कि बुद्ध का अपना ऐसा दृढ विश्वास था कि मुझे सत्य का पता है और उसे मै दूसरो तक पहुँचा भी सकता हूँ। यह मानना कठिन है कि बुद्ध स्वय अज्ञान में थे और अपने अनुयायियो को भी वे अज्ञान में बनाये रखना चाहते थे। कोई भी विचारशील व्यक्ति चरम प्रश्नों के सम्बन्ध में बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे नही रह सकता। यह कहना अधिक युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि बुद्ध उपनिषदो से मिलते-जुलते किसी भावात्मक आदर्श को मानते थे जिसका प्रचार उन्होने केवल इसलिए नही किया क्योकि वे चाहते थे कि प्रत्येक पुरुष उसका आविष्कार अपने अनुभव से करे। उन्होने दार्शनिक प्रश्नो को उपेक्षा की दृष्टि से देखा क्योकि दार्शनिक वितडा जीवन के प्रधान लक्ष्य नैतिक आचरण में अडचन डालती है। पवित्रता-प्राप्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं क्योकि पवित्रता नैयायिक अथवा बौद्धिक न होकर आध्यात्मिक तथा आभ्यन्तरिक होती है। यदि हम इस मत को नही मानते तो बुद्धकृत निर्वाण के भावात्मक वर्णनो तथा परिणामी जगत् से परे की नित्य सत्ता को निषेध करने से दृढतापूर्वक इनकार करने की सगति नहीं बैठ सकती। उनके काशी के उपदेश में एक निरपेक्ष सत्ता के अस्तित्व का

स्पष्ट आभास मिलता है। उपनिषद्-सम्मत मानव-मस्तिष्क की परिमित क्षमता को ध्यान में रखकर ही बुद्ध ने उसका स्पष्ट भावात्मक वर्णन नहीं किया है, परन्तु न्याय की सीमा के भीतर जितना सम्भव है, उन्होंने उस चरम तत्व को धर्म कहकर वर्णित किया है। उपनिषदों में धर्म एवं सत्य को एक ही माना गया है। चूंकि बुद्ध नैतिक आचरण को ही मुख्य मानते थे अतएव उन्होंने उस निरपेक्ष सत्ता के नैतिक स्वरूप पर ही विशेष बल दिया है। उनके उपदेशों में ब्रह्म का स्थान धर्म ने ही ले लिया है। (इस प्रश्न पर देखो 'माइंड' १६२६ पृष्ठ १५८-१७४)।

७

भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन के समस्त इतिहास म मनुष्य के कर्मक्षेत्र इस सामान्य ससार के परे एक अधिक वास्तविक परम सूक्ष्म ससार की—सच्चे आत्मलोक की-–कल्पना भारतवासियो के मस्तिष्क मे बराबर रही है। जीवन-समस्या के रहस्योद्घाटन में तथा पशुता से ऊपर उठ कर नैतिक एव आध्यात्मिक शिखर पर जा चढने में मनुष्य जिस प्रकार सतत प्रयत्नशील रहा है, उसका सुन्दर दृष्टान्त हमें भारतवर्ष में मिलता है। वहाँ चार हजार वर्ष के-–और यदि सिन्ध एव पजाब की नवीनतम खोजो को भी सम्मिलित कर लें तो और भी अधिक काल के-–मानव-प्रयास का निरीक्षण भली भाँति किया जा सकता है। यह अबोध सरल विश्वास कि ससार का शासन सूर्य तथा अन्य आकाश-स्थित देवता करते है जो ऊपर बैठे-बैठे देखा करते है कि मनुष्य का आचरण सरल है अथवा कुटिल, यह मानना कि जो देवता मनुष्य की मनस्कामना पूर्ण करने को प्रार्थना से सम्मत तथा यज्ञ से विवश होते है वे एक ही ब्रह्म के नाना रूप है, यह निश्चित सिद्धान्त कि जिसका ज्ञानमात्र

मोक्षदायक है, वह निर्विकार, नित्य शुद्ध परमात्मा तथा मनुष्य-हृदय के अन्तरतम प्रदेश में स्थित जीवात्मा एक ही है, जडवाद, नास्तिक दर्शन, भाग्यवाद आदि का प्रादुर्भाव , तत्पश्चात् जैन तथा बौद्ध नैतिक सम्प्रदाय जिनका सिद्धान्त है कि ईश्वर की सत्ता मानो चाहे न मानो केवल मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध रहकर निर्वाण लाभ किया जा सकता है, श्रीमद्भगवद्गीता का उदार ईश्वरवाद जो ब्रह्म में दार्शनिक पूर्णता के साथ-साथ पूर्ण नैतिकता का भी समावेश करता है, नैयायिको की तर्क-विद्या जिसके द्वारा ज्ञेय जगत् के उन मुख्य 'पदार्थों' का ज्ञान होता है जिनका व्यवहार शास्त्रीय विवेचन में अब तक होता है , वैशेषिको का प्रकृति-विवेचन , साख्य का वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक विचार-विमर्श , योग का विभूति-सम्पादन मार्ग, मीमासा के नैतिक तथा सामाजिक विधि-निषेध, शकर, रामानुज, माधव, निम्बार्क, वल्लभ एव जीव गोस्वामी के धार्मिक व्याख्यान--ये सब मानव इतिहास में दार्शनिक विकास के सचित उत्कृष्ट उपकरण है। मत के बाद मत, सम्प्रदाय के बाद सम्प्रदाय न्यायक्रम से आता गया। भारतीय जीवन निरन्तर गतिशील रहा, जैसे-जैसे उसमें विकास होता गया उसका स्वरूप भौतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो के अनुसार बराबर परिवर्तित होता रहा। शुरू-शुरू में प्राचीन भारतवासी प्रत्येक क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास कर रहे थे। उन्हें अतीतोपार्जित ज्ञान का सहारा प्राय बिलकुल ही नही था। उनको कुछ घोर कठिनाइयो का सामना भी करना था जो आज हमारे सामने है ही नही। इतना होने पर भी विचार एव व्यवहार के क्षेत्र में उन्होने बहुत कुछ किया है। पर चक्र पूरा नही हुआ, सभी सम्भावित रूप समाप्त नही हो सके, समस्या उलझी-की-उलझी ही बनी है। दर्शन अभी तक अपने शैशव में ही पडा है, उसे पार नही कर पाया।

अन्य दर्शनो की भाँति भारतीय दर्शन की आलोचना से विश्व की रहस्यमयता एव अनन्तता का तथा उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के आग्रहपूर्ण मनोरम प्रयत्न का परिचय मिलता है। अगणित तत्त्वदर्शी पडितो ने मानव-ज्ञान-मन्दिर के थोडे बहुत भाग को, सतत अपूर्ण मानव-ज्ञान के किसी नूतन खड को, निर्मित किया है। किन्तु मनुष्य की गम्भीर मीमांसा उस लक्ष्य तक न पहुँच सकी जिसे वह न तो पूर्णत. प्राप्त ही कर सकता है और न छोड ही सकता है। उत्तराधिकार में अतीत से पाई टिमटिमाती हुई ज्ञान-ज्योति की तमोनिवारण-शक्ति की वैसी तीव्र अनुभूति हमे नही है जैसी चतुर्दिक् प्रसरित घोर अन्धकार की गहनता की है। दार्शनिको के इतने प्रयत्नो के पश्चात् भी चरम लक्ष्य से आज हम उतनी ही दूर है जितनी दूर युगो पहिले थे—जितनी दूर जब तक हम मनुष्य हैं प्रामीथियस की भाँति रहस्य-पर्वत में शान्त-मस्तिष्क की सुदृढ डोरी से बँधे रहकर सदा ही रहेंगे*। दार्शनिक मीमासा, फिर भी, व्यर्थ नही है। उसकी सहायता से हम अपने बन्धनो को महसूस कर सकते है, बाँधनेवाली जजीरो की झनकार सुन सकते है। उससे हमें मानव-

* जेनो फेनस का कथन है—"देवताओ तथा जिसे हम सार्वलौकिक प्रकृति कहते है, उसके सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कोई कुछ नही जान सका है और न आगे ही जान सकेगा। यदि दैवात् कोई सत्य तक पहुँच भी गया तो भी उसे तथ्य का ज्ञान नही होगा, क्योंकि सब कुछ माया से आच्छादित है।" (Gomperz: Greek Thinkers, Vol. I. page 164).

दुर्बलताओ का बडा तीव्र ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार अपनी पूर्णता का अनुभव होता है तथा इस नश्वर जीवन की अपूर्णता सर्वतोभावेन स्पष्ट हो जाती है। यदि यह ससार हमारी बुद्धि के लिए उतना ही सरल तथा स्पष्ट नही है जितना हम चाहते है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! दार्शनिक तो ज्ञान का प्रेमीमात्र होता है, स्वामी नही। यात्रा के अन्त का विशेष महत्त्व नही है, यात्रा ही सब कुछ है। परिभ्रमण में जो आनन्द है वह यात्रा समाप्त हो जाने पर कहाँ मिल सकता है ?

वक्तव्य निश्शेष हो जाने पर अब हम जिज्ञासा कर सकते है कि क्या इतिहास का ज्ञान विकास का, उन्नति का, समर्थन करता है? मानव विचार-धारा आगे की ओर, विकास की ओर, बढ रही है अथवा पीछे की ओर जा रही है? परिणाम चचल अथवा अर्थहीन नही है। भारतवर्ष विकास में विश्वास रखता है क्योकि, जैसा हम पहिले कह चुके है, भिन्न भिन्न युगो में नैसर्गिक सम्बन्ध है। अविच्छिन्नता का आभ्यन्तरिक सूत्र कभी टूटा नहीं है। वे क्रातियाँ भी जो अतीत को काल प्रतीत होती है, उसमें पुन प्राण-प्रतिष्ठा ही करती है। पीछे लौटकर चक्कर लेनेवाली भँवर जलधारा का अवरोध नही करती, उसे और भी गति देती है। जिन्हें हम अवनति के युग कहा करते है वे वस्तुत इस देश के निकट अतीत की भाँति पुराने जीवन से नवीन की ओर आने के परिवर्तन काल होते है। अवनति तथा उन्नति की युगल धारायें एक ही में मिल जाती है। कभी तो उन्नति की ओर ले जानेवाली शक्तियाँ बडे वेग से आगे को बढ़ती नजर आती है, कभी गति अनिश्चित दशा में अवरुद्ध-सी प्रतीत होती है और कभी परावर्तन की शक्तियाँ

विकास की शक्तियो को पराजित करके पीछे की ओर जाती दिखाई देती है, पर सब मिलाकर देखने से मालूम होगा कि गति आगे की ही ओर हुई है। इससे इनकार करना ठीक नही होगा कि इस पद्धति मे बहुत कुछ विनष्ट हो गया, किन्तु अतीत के इतिहास ने जिस मार्ग को चन लिया उस पर बिगडने अथवा आँसू बहाने के समान व्यर्थता कदाचित् ही कही मिले। कुछ हो, दूसरा परिणाम यदि होता तो बुरा होता। अधिक महत्त्व की वस्तु तो भविष्य है। हम अपने पूर्वजो से ज्यादा दूर तक देख सकते है क्योकि हम उनके कंधो पर चढ सकते है। अतीत में जो श्रेष्ठ नीव डाल दी गई है उससे हमें सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिए वरन् हमें तो उससे अधिक भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहिए जो अतीत-प्रयास तथा नूतन दृष्टिकोण दोनो में सामजस्य स्थापित कर सके।

सब दर्शनो की एकता

परम्परा-भक्ति तथा सत्य-प्रेम य दो बातें भारतीय दार्शनिको के समस्त प्रयत्नो में किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। प्रत्येक दार्शनिक यह समझता है कि उसके पूर्वजों के सिद्धान्त ही वह शिलायें है जिनसे आध्यात्मिक प्रासाद निर्मित हुआ है, उनकी निन्दा अपनी ही सस्कृति की निन्दा है। एक उन्नतिशील जाति, जिसकी अपनी सम्पन्न सस्कृति है, उस सस्कृति की अवहलना कभी नही कर सकती, भल ही उस सस्कृति के कुछ अग ऐसे हो जो श्लाघ्य न कह जा सकें। ये दार्शनिक बड़े परिश्रम से प्राचीन सम्प्रदाय को समझाने का प्रयास करते है,

उसमें लाक्षणिकता खोज निकालते हैं, उसे परिवर्तित एवं परिशोधित भी करते हैं क्योंकि वह लोक-भावनाओं का केन्द्र बन चुका है। परवर्ती भारतीय आचार्य पूर्वगामी दार्शनिको के विश्व के सम्बन्ध में निश्चित किये हुए विविध सिद्धान्तो का समर्थन करते हैं और उन सबको ही सत्य का भिन्न-भिन्न मात्रा में दिग्दर्शक मानते हैं। यह नही माना जाता कि विभिन्न सम्प्रदाय यथार्थत एक अज्ञात प्रदेश में मानव-मस्तिष्क के असम्बद्ध अभियान अथवा दार्शनिक विचित्रताओ का सग्रह है। वे सब उस एक ही मस्तिष्क से निकले माने जाते हैं जिसने इस महान् मन्दिर का निर्माण किया है, यद्यपि उस मन्दिर में अनेक दीवाले, अनेक देहलियाँ, अनेक मार्ग और खम्भे हैं।

न्याय तथा विज्ञान में, दर्शन तथा धर्म म, प्राकृतिक सम्बन्ध है। विचारो की उन्नति का प्रत्येक नूतन युग न्याय के सुधार से ही प्रारम्भ होता है। पद्धति की समस्या का विशेष मूल्य है क्योंकि इसमें मानव-विचारो की प्रकृति का खास ज्ञान सन्निहित है। न्याय-दर्शन हमें यह बताता है कि कोई भी चिरस्थायी दर्शन बिना तर्क-शास्त्र के आधार के नही बन सकता। वैशेषिक चेतावनी देता है कि प्रत्येक सफल दर्शन के लिए भौतिक प्रकृति की रचना-प्रणाली का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। हम हवाई किला नही बना सकते। यद्यपि दर्शन तथा भौतिक विज्ञान दो भिन्न भिन्न शास्त्र हैं जो कभी एक नही हो सकते, फिर भी दार्शनिक योजना को प्रकृति-विज्ञान के निष्कर्षों से समजसता रखनी होगी। किन्तु जो बातें भौतिक जगत् के सम्बन्ध में सत्य हैं, उन्हें यदि हम अधिक व्यापक मानकर सम्पूर्ण विश्व पर आरोपित कर दें तो

हम वैज्ञानिक दर्शन का प्रचार करने के दोषी ठहराये जायँगे। सांख्य-शास्त्र इस खतरे से बचने के लिए हमें सावधान करता है। प्रकृति की समस्त शक्तियाँ चेतना के उत्पादन मे असमर्थ है। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दार्शनिको की भाँति प्रकृति अथवा चेतनता को हम एक-दूसरे के रूप से परिवर्तित नही कर सकते। सत्य का दर्शन हमें विज्ञान तथा मानव-जीवन में ही नही मिलता वरन् धार्मिक अनुभूति में भी मिलता है और यह अनुभूति ही योग-दर्शनका विषय है। पूर्व मीमासा और वेदान्त आचरण तथा धर्म पर विशेष ज़ोर देते है। बाह्य प्रकृति तथा मानव-मस्तिष्क का सम्बन्ध-ज्ञान ही वेदान्त-दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय है। जो कहा गया था कि ऋषि लोग एक-दूसरे का विरोध नही करते, वह दर्शनो के सम्बन्ध में भी सच है। न्याय-वैशेषिक यथार्थवाद, सांख्य-योग द्वैतवाद तथा वेदान्त के अद्वैतवाद मे सत्य एव असत्य का नही, कम सत्य एव अधिक सत्य का अन्तर है।* वे तो क्रमश मन्दाधिकारी, मध्यमाधिकारी एव उत्तमाधिकारी की आवश्यकताओ की पूर्ति के उद्देश्य से निर्मित हुए है। एक

* माधव– 'सर्वदर्शन सग्रह', मधुसूदन सरस्वती 'प्रस्थानभेद', विज्ञान भिक्षु—'सांख्य प्रवचन भाष्य'। कान्ट से तुलना कीजिये— "जब हम दो विद्वानो के विचारो में समन्वय करके सत्य का दर्शन कर लेते है—और एक दूसरे का प्रत्याख्यान करते रहने पर भी ऐसा कभी नही होता कि भिन्न-भिन्न विचारो के भीतर प्रच्छन्न एक ही सत्य का दर्शन वे न कर सकें—तो हम मानव-बुद्धि के गौरवपूर्ण पद की रक्षा करते है।" वार्ड— "कान्ट का अध्ययन' मे उद्धृत, पृष्ठ ११, नोट १

हो मूल पाषाण को काट छाँट कर विविध सम्प्रदायों का निर्माण किया गया है, सबका मूलाधार एक, भेद रहित, पूर्ण एवं अन्य अपेक्षारहित है। विश्व-सम्बन्धी कोई भी ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक उसमें न्याय तथा भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र, दर्शन तथा धर्म के विभिन्न पहलू नहीं है। जितने दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म भारत में हुआ है, उनमें से प्रत्येक ने अपना स्वतंत्र तत्व-मीमांसा-शास्त्र, प्रकृति तथा आत्मा का सम्बन्ध-निर्देश एवं नीति तथा धर्म-शास्त्र का विधान किया है। प्राकृतिक विज्ञान की सरक्षता में जगत्-सम्बन्धी हमारा ज्ञान बहुत उन्नति कर चुका है और अब हम जीवन के किसी सीमित दृष्टिकोण से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। भविष्य में जो दार्शनिक प्रयास किये जायेंगे उनको मनोविज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान के नवीनतम अनुसन्धानों से सम्बन्ध स्थापित करने की जरूरत होगी।

जीवन तथा दर्शन

दर्शन का काम जीवन को व्यवस्थित करना तथा उसे मार्ग प्रदर्शित करना है। दर्शन जीवन के नेतृत्व को ग्रहणकर संसार के अनेक परिवर्तनों एवं परिस्थितियों में से होकर रास्ता दिखाता है। जब तक दर्शन जीवित रहता है, वह लोक-जीवन से दूर नहीं जाता। दार्शनिकों के विचार उनकी व्यक्तिगत जीवन-चर्या से ही विकसित होते हैं। हमें उसके प्रति केवल श्रद्धा ही नहीं रखना है प्रत्युत् उस भावना की प्राप्ति भी करनी है। वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य तथा गार्गी, बुद्ध तथा महावीर, गौतम

तथा कणाद, कपिल तथा पतञ्जलि, वादरायण और जैमिनि केवल इतिहासकारो के विषयमात्र नही है, वे व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न प्रकार भी है। उनके लिए दर्शन, विचारो तथा अनुभव पर आधारित ससार-सम्बन्धी एक दृष्टिकोण है। भली भाँति मनन किय हुए विचार ही जीवनरूपी सर्वोच्च परीक्षा मे व्यवहृत एवं परीक्षित होकर धर्म बन जाते है। दर्शन का अभ्यास धर्माचरण की पूर्ति करना भी तो है।

निकट अतीत में दर्शन की अवनति

इस पुस्तक में जिस साक्ष्य का सग्रह किया गया है, उससे तो इस बात की पुष्टि नहीं होती कि भारतीय मस्तिष्क विचार करने से घबराता है। भारतीय विचारो की सम्पूर्ण उन्नति को केवल यह कहकर नही उडाया जा सकता कि भारतीय मस्तिष्क इतना तर्क-प्रेमी अथवा सशक्त नही है कि वह भद्दी कल्पना तथा मूर्खतापूर्ण देव-कथाओ से ऊपर उठ सके। किन्तु फिर भी पिछली तीन-चार शताब्दियो के दार्शनिक इतिहास मे प्रचुर मात्रा में ऐसी सामग्री पाई जाती है जिससे यह आक्षेप बहुत कुछ सिद्ध होता-सा प्रतीत होता है। अब भारत ने एशिया* खड में उच्च ज्ञान के नेतृत्व का

* प्रोफेसर लाग काई चो ने चीन के प्रति भारत के ऋण को इस प्रकार व्यक्त किया है--"भारत ने हमें पूर्ण स्वाधीनता का पाठ पढाया है, उस आधारभूत मानसिक स्वतत्रता का पाठ पढाया है जिससे हमारा मस्तिष्क परम्परा, आदत तथा वर्तमान

महत्त्वपूर्ण कार्य करना छोड़ दिया है। कुछ लोग यह सोचने लगे हैं कि जो आध्यात्मिक शक्तियाँ विश्वासी जन में सदी पूर्व तेज के साथ प्रवाहित हो रही थीं, वह कदाचित् पथभ्रष्ट होकर अशुद्ध गन्द जल में ही अब समाप्त होने को है। दार्शनिक अथवा कहना चाहिए कि इस प्रगति-काल के दर्शन-लेखक भारत की आत्मा का पता तो लगाते हैं पर सत्य से उनका तात्पर्य केवल विद्या वाग्जाल अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के सर्वोच्च सिद्धान्तों में नाम को स्थान मिल जानेमात्र से है। इन तर्क-

युग की रीतियों की दासता-पाश को तोड़ने में सफल हो सकता है—वह आध्यात्मिक स्वाधीनता जो भौतिक जीवन के समस्त बन्धनों को काट देती है। · · 'भारत ने हमें निरपेक्ष प्रेम को सिखाया है, प्राणिमात्र के लिए वह पवित्र स्नेह जिसके कारण ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, घमंड तथा स्पर्धा की नीच वृत्तियों का विनाश होता है, जो मूर्ख, दुष्ट तथा पापियों के प्रति भी दया एवं समवेदना जाग्रत करता है—वह निरपेक्ष प्रेम जो प्राणि-मात्र में ब्रह्म दृष्टि रखने की शिक्षा देता है।" इसके बाद उन्होंने समझाया है कि चीन के साहित्य एवं कला को, संगीत एवं शिल्प को, चित्रकला तथा मूर्तिविद्या को, नाटक, कविता तथा आख्यायिका को ज्योतिष तथा आयुर्वेद शास्त्र को शिक्षा-पद्धति एवं समाज-व्यवस्था को क्या-क्या मिला है। देखो त्रैमासिक विश्व भारती अक्टूबर १९२४। बर्मा तथा स्याम पर, जापान तथा कोरिया पर जो भारत का प्रभाव पड़ा वह तो सर्वविदित ही है।

व्यवसायियो का विश्वास है कि उनके पार्श्व में स्थित छोटा-सा झरना, ही—बालुका-क्षेत्र में लुप्त हो जानेवाली अथवा कुहासे के रूप में उड जानेवाली ह्रस्व-काय कुल्या ही—भारतीय दर्शन की विशाल सरिता है।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के अनेक कारण है। मुसलमानो का साम्राज्य स्थापित हो जाने से जो राजनीतिक परिवर्तन हुए, उनके फलस्वरूप लोग कुछ रूढिवादी तथा अनुदार हो गये। उस युग में, जब व्यक्तिगत गौरव तथा सिद्धान्तो के प्रचार से प्राचीन समाज-व्यवस्था तथा स्थायी विचार-धारा में अराजकता फैल रही थी, किसी सर्वमान्य प्रामाणिक नियन्त्रण की विशेष आवश्यकता थी। मुस्लिम-विजय तथा इस्लाम के प्रचार और तदुपरान्त ईसाई-धर्म के प्रचार ने हिन्दू-समाज की नीव ही हिला दी और अस्थिरता की इस गम्भीर चेतना से युक्त युग में स्वभावत नियामक सत्ता ही वह सुदृढ शिला बनी, जिस पर समाज के रक्षण तथा आचरण की पवित्रता का निर्माण किया जा सकता था। इस सास्कृतिक सघर्ष में रूढियो की शरण में जाकर हिन्दुओ ने अपने को सबल बनाया तथा आक्रमण करनेवाले विचारो को उन्होने अपने पास ही नही फटकने दिया। उनके समाज ने तर्क से विश्वास खोकर तथा बहस से ऊबकर अपने को पूर्णरूप से उस नियामक सत्ता के अधीन कर दिया जिसने शका को ही पाप घोषित कर दिया। तभी से वह अपने आदर्श का सच्चा भक्त नही रहा। उसमे सच्चे दार्शनिको का अभाव हो गया, बच रहे केवल कुछ पडित जो नवीनता का तिरस्कार करके पुराने राग अलापने में लग गये। कुछ शताब्दियो तक वे इस कल्पित चरम सिद्धान्त से अपने को

खोता ही रहा। रचनात्मक शक्ति का ह्रास हो जाने से लोग दर्शन के इतिहास को ही दर्शन समझने लगे। भारतीय दर्शन स्वतन्त्र पराङ्मुख होकर अक्षमता में ही पड़ा रहा। आत्मसात्म्य में विचारों की प्रतिभासम्पन्नता तथा पथ-प्रदर्शन से दूर हटकर इसने अपने ऊपर बहुत कम साक्षात्कार किया। बहुतों का विश्वास हो गया कि उनकी जाति ने जिस सत्य की प्राप्ति के लिए एक दीर्घकालीन सच्ची यात्रा की थी, वह उन्हें अन्तिम रूप में प्राप्त हो गया है। वे थक से गये और उनको इच्छा होने लगी कि अब विश्राम किया जाय। वे लोग भी, जो समझते थे कि वे लक्ष्य तक अभी नहीं पहुँच पाये हैं और जिन्हें भविष्य में काफी विस्तृत क्षेत्र अब भी चलने को बाकी दिखाई पड़ता था, अज्ञात पथ से तथा उसकी कठिनाइयों से भयभीत थे। दुर्बल हृदय के व्यक्तियों का सुरक्षा तथा अनन्तता के सम्बन्ध में आशा करना खतरे से खाली नहीं है। अनन्त की गवेषणा एक ऐसा व्यापार है जिससे बचने का प्रयास बड़े-बड़े शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति भी यथासम्भव किया करते हैं। मनुष्य की बड़ी-से-बड़ी शक्ति में भी उत्साहहीनता के क्षण आते हैं और इन तीन-चार शताब्दियों में दार्शनिक प्रेरणा पर भी उत्साह-हीनता अथवा अकर्मण्यता का आक्रमण हो गया था।

वर्तमान स्थिति

आज संसार के बड़े-बड़े धर्मों तथा विचार-धाराओं का भारतवर्ष में सम्मिलन हो गया है। पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क से पिछले युग के आत्म-सन्तोष में कुछ क्षोभ उत्पन्न हो गया है। एक भिन्न संस्कृति को

स्वीकार कर लेने का एक फल यह हुआ है कि लोगों की यह धारणा बन गई है कि चरम प्रश्नों का कोई आधिकारिक समाधान नही हो सकता। परम्परा-प्राप्त समाधानो में विश्वास नही रहा और किसी हद तक विचारों मे कुछ अधिक स्वतत्रता एव अधिक परिवर्तनशीलता को प्रश्रय मिल गया है। प्रथाएँ फिर तरल हो गई है और यद्यपि कुछ लोग प्राचीन नीव पर ही पुनर्निर्माण करना चाहते है पर कुछ ऐसे भी लोग है जो उस नीव को ही हटा देने के पक्ष में है। यह परिवर्तन-कालीन युग काफी मनोरजक तथा चिन्तापूर्ण है।

निकट अतीत में भारतवर्ष विश्व की विचार-धाराओ के मुख्य प्रवाह से दूर एक सुरक्षित कोने मे पडा था, पर आज तो शेष ससार के साथ सम्बन्ध-हीनता की वह दशा नही रही है। आज के तीन-चार सौ वर्ष बाद के इतिहासकार को भारत तथा योरोप के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखना होगा, पर अभी तो वह सब अप्रकट ही है। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, हमें लोगों के अनुभव के क्षेत्र मे काफी व्यापकता मिलती है, लोगो में आलोचना की प्रवृत्ति जाग उठी है तथा अकेली सैद्धान्तिक चिन्तना से लोगो को अरुचि उत्पन्न हो गई है।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है। क्रिया की ही तरह विचारो के क्षेत्र में भी अत्यधिक बन्धन एव पूर्ण अनवस्था दोनो ही मनुष्य की आत्मा को पतन की ओर ले जाती है। जहाँ तक संस्कृति तथा सभ्यता का सम्बन्ध है, दोनो समान ही है। हो सकता है कि अराजकता में भौतिक कष्ट, आर्थिक बरबादी तथा सामाजिक खतरा ही और बन्धन में भौतिक सुख, आर्थिक स्थिरता तथा सामाजिक शान्ति हो, पर सभ्यता को आर्थिक सम्पन्नता अथवा सामाजिक

व्यवस्था की रक्षा समझ लेना भारी भूल होगी। कई पीढ़ियों तक सार्वजनिक अनर्थ तथा व्यक्तिगत कष्ट झेलकर भारतवर्ष ने अंग्रेजों के आगमन का जो स्वर्ण-युग समझकर स्वागत किया था, उसको समझना कुछ कठिन नहीं है, पर भारत की वर्तमान भावना को सहानुभूतिपूर्वक समझना भी उतना ही सरल है। मनुष्य की आत्मा सुख की नहीं, आनन्द की भूखी है, उसे शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं, जीवन तथा स्वाधीनता चाहिए, उसे आर्थिक स्थिरता अथवा न्यायपूर्ण शासन की चाह नहीं प्रत्युत् असंख्य दुःख-कष्ट उठाकर भी अपनी मुक्ति के मार्ग को स्वयं प्रशस्त करने का अधिकार चाहिए। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में गैरराजनीतिक गुणों का भी उचित विकास नहीं होने पाता। अंग्रेजों के शासन ने भारत को शान्ति एवं सुरक्षा अवश्य प्रदान की है पर वह तो कोई चरम साध्य नहीं है। यदि हम वस्तुओं का ठीक-ठीक मूल्य आंकना चाहते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि आर्थिक स्थिरता तथा राजनीतिक सुरक्षा मूल्यवान् एवं आवश्यक होने पर भी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साधनमात्र हैं। आध्यात्मिक उद्देश्य की बिलकुल चिन्ता न करनेवाला निरंकुश शासन, वह कितना ही भला एवं उदार क्यों न हो, शासित प्रजा में स्फूर्ति का संचार नहीं कर सकता और इसलिए उस प्रजा से किसी प्रबल प्रतिक्रिया की आशा नहीं की जा सकती। जब जीवन-निर्झर सूख रहा हो, जब सहस्रों वर्ष से चले आनेवाले आदर्श, चेतना का प्रकाश, शक्ति का स्वतन्त्र उपयोग, जीवन-क्रीड़ा, जीवन का सुख तथा शान्ति की पूर्णता (प्राणारामम्, मनानन्दम्, शान्ति समृद्धम्) आदि नष्ट हो रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं यदि भारतवासी अपना बोझ और भी बढ़ा हुआ अनुभव करें, उसे हलका होते न पावें। इससे

ब्रिटेन के कार्य की महत्ता की चर्चा करना व्यर्थ है क्योकि उस कार्य के आध्यात्मिक महत्त्व पर इतिहास अपना निर्णय दे चुका है। यदि आधुनिक नेता अतीत की प्रतिध्वनिमात्र बनकर ही सन्तुष्ट हो गये है, अपनी ओर से कुछ कहने का प्रयास उन्होने नही किया, यदि वे बौद्धिक मध्यस्थ ही बने रहे मौलिक दार्शनिक नही बन सके तो इस निष्फलता अथवा वन्ध्यत्त्व में पाश्चात्य सभ्यता की ठेस तथा गुलामी की लज्जा का भी कुछ कम हाथ नही है। भारत की वर्तमान मनोवृत्ति के गम्भीर कारणो से उसे आप हलचल, विद्रोह अथवा ललकार आदि किसी भी नाम से क्यो न पुकारें, अग्रेज भली भाँति परिचित है। उन्होने प्रयास किया कि अपनी सभ्यता को, जिसे स्वभावत. वे उच्चतर समझते है, भारतीयो तक पहुँचा दें और वे चाहते थे कि शिक्षा एव ज्ञान-प्रचार के इस कार्य में, जो अच्छा ही है, वे बिना किसी सकोच अथवा बाधा के लगे रहें। पर भारत को इस सास्कृतिक शासन से कोई सहानुभूति नही। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उन प्राचीन प्रथाओ से चिपटा हुआ है, जिन्होने उसे काम, क्रोध तथा वासनाओ के वेग को दमन करने में सहायता दी है। जो उसके अतीत से परिचित है, वही उसके इस अध्यात्म-मन्दिर में रहने की ममता को समझ सकेगा क्योकि "सभी अपने-अपने घर के स्वामी है" (सर्व स्वे स्वे गृहे राजा)। इस आभ्यन्तरिक स्वतत्रता में अड़चन डालनेवाली राजनीतिक पराधीनता उसे घोर अपमान प्रतीत होती है। स्वराज्य की माँग तो इस अध्यात्म-देश की रक्षा-सम्बन्धी चिन्ता का ही केवल वाह्य प्रकाशन है।

फिर भी भविष्य आशापूर्ण है। यदि भारतवर्ष आन्तरिक स्वराज्य पा जाय तो पाश्चात्य विचार-धारा से भारतीय मस्तिष्क को बहुत सहायता मिल सकती है। भारतीय शास्त्रो ने सस्कृति के

सम्वन्ध में किसी 'मनरो'-सिद्धान्त को जन्म नही दिया। उस प्राचीन काल में भी, जव भारत अपने समाज की आवश्यकतापूर्ति के लिए पर्याप्त आध्यात्मिक भोजन उत्पन्न करता था, ऐसा कोई युग नही पाया जाता जव वह दूसरो के कल्पना-क्षेत्र की उत्पत्ति को उत्सुकतापूर्वक ग्रहण करने को तैयार न रहा हो। अपने समृद्ध युग में भारत उन एथेन्स-निवासियो के ज्ञान को मानकर चलता रहा जिनके विपय में पेरीक्लीज़ का कथन है—"हम अन्य लोगो के मतो को वड़ी प्रसन्नता के साथ सुनते है और जिनका मत हमसे नही मिलता, हम उनसे दूर नही भागते।" वाह्य प्रभावो का भय हमें उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हममें आत्म-विश्वासहीनता अथवा दुर्वलता होती है। यह सच है कि आज हमारे चेहरे पर शोक-रेखाएँ है तथा वुढापे के कारण हमारे वाल कुछ पक गये-से दिखाई देते है। हममें जो विचारशील है वे कुछ चिन्ताग्रस्त है, कुछ तो निराशावादी हो गये है और इसलिए विचार-क्षेत्र में वे एकान्तवासी सन्यासी वन गये है। पाश्चात्य सस्कृति से जो असहयोग चल रहा है वह तो अस्वाभाविक परिस्थितियो के कारण उत्पन्न हो जानेवाली एक ऐसी स्थिति है जो अधिक समय तक टिकनेवाली नही। उसके रहते भी पाश्चात्य-भावना को समझने तथा उसे प्रशसा की दृष्टि से देखने का प्रयास हो ही रहा है। यदि भारत ने पाश्चात्य सस्कृति के वहुमूल्य अश को ग्रहण कर लिया तो वह अतीत में की गई उसी प्रकार की अनेक क्रियाओ की पुनरावृत्ति-मात्र होगी।

जिन लोगो को पाश्चात्य प्रभाव ने स्पर्श नही किया है, वे अधिकाश में ऐसे लोग है जिन्हें अपनी वौद्धिक अथवा चारित्रिक विशिष्टता का गर्व है, जो राजनीति से विलकुल उदासीन है तथा विश्वासपूर्ण आशा-

के नही; भवितव्यतावलबन तथा ममत्व-विसर्जन के भक्त है। उनका ख्याल है कि उन्हें न कुछ सीखना है और न कुछ भूलना है; वे तो अतीत के शाश्वत धर्म की ओर ही अपनी दृष्टि रखकर कर्तव्य का पालन करते जा रहे है। उन्हें मालूम है कि दूसरी शक्तियाँ भी काम कर रही है जिन्हें रोकने अथवा नियन्त्रित करने की शक्ति उनमें नही है और उनकी सम्मति है कि हमें जीवन की कठिनाइयो एव भ्रान्ति निर्मोचन का मुकाबला शान्तिपूर्वक तथा आत्म गौरव के साथ करना चाहिए। यह वर्ग अपने उन्नति-काल में अधिक गतिशील था और बराबर प्रयास किया करता था कि बुद्धिवाद तथा धर्म का सामंजस्य स्थापित कर लेना चाहिए। इसने सदा ही धर्म को सयुक्तिक व्याख्या करके नास्तिको से उसकी रक्षा की है तथा धार्मिक विवेचना में इसने रूपक-पद्धति को ही अपना साधन बनाया है। इस वर्ग के लिए धर्म का विषय मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति है, उसमें बुद्धि के साथ ही मनुष्य की व्यावहारिक तथा रागात्मक वृत्तियो का भी समावेश होता है। यदि प्राचीन विद्या के वर्तमान प्रतिनिधियो में अतीत की स्फूर्ति भी होती तो अन्य शक्तियो के साथ असहयोग करने की अपेक्षा उन्होने स्वतत्रता तथा मौलिकता के साथ प्राचीन विद्या से उत्तराधिकार में पाई शक्ति के द्वारा एक नवीन योजना की सृष्टि की होती। पर उनकी तो विचारो अथवा क्रिया के सम्बन्ध में, लौकिक अथवा आध्यात्मिक सम्बन्ध में, प्रमाण में, नियम में अत्यधिक श्रद्धा है और इसलिए वे प्रगति-विरोध तथा मानसिक दासता के दोषी बन गये है। मुसलमानो के आने से पहिले भी हम प्रमाण चाहते जरूर थे किन्तु उस मर्यादानुसरण में बौद्धिक स्वतत्रता का अपहरण नही था और यद्यपि लोग अपने मनोनुकूल शास्त्र की आज्ञा के पालन के समर्थन में युक्तियाँ देने को सदा तैयार

रहते थे, वह शास्त्र चाहे वेद हो चाहे आगम और यद्यपि युक्तिपूर्ण काट-छाँट तथा दार्शनिक विवेचना के द्वारा वे शास्त्र को सदा ही तर्कयुक्त सिद्ध कर दिया करते थे, पर आज की शास्त्र-भक्ति तो मानवात्मा के लिए कारागार बन गई है। धर्मशास्त्र की किसी बात पर भी शका करने का यह अर्थ लिया जाता है कि हम अपने महान् पूर्वजो के अवाध्य हो रहे है। उन्हें चुपचाप मान लेना उनमें अपनी भक्ति का परिचय देना समझा जाता है। जिज्ञासा तथा शका को प्राचीन ग्रन्थो का उद्धरण देकर दबा दिया जाता है, वैज्ञानिक सत्य को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता है यदि वह येन केन प्रकारेण प्रचलित विकास का ही अग नही बनाया जा सकता। अकर्मण्यता, विरोध-हीनता तथा शासन-स्वीकृति ही बौद्धिक सद्गुण समझी जाती है। अत कोई आश्चर्य की बात नही यदि आज का दार्शनिक साहित्य अतीत के श्रेष्ठ कार्य की तुलना में बहुत हीन श्रेणी का है। यदि विचार को इतना अधिक श्रम न करना पडता तो निश्चय ही वह कही अधिक विशद होता।

बुद्धि अथवा विवेक में श्रद्धा भारतीय दार्शनिको की पैतृक सम्पत्ति है। प्राचीन ऋषि अनुकरण नही, सृजन पसन्द करते थे। सत्य के लिए नित्य नवीन विजय प्राप्त करने को वे सदा उत्सुक रहते थे तथा सतत परिवर्तनशील अतएव चिर नवीन जीवन-रहस्यो के उद्घाटन में वे नित्य तत्पर रहते थे। उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई विचार-राशि की विपुलता ने कभी उन्हें मानसिक दासता में नही बाँध पाया। हम पुराने समाधानो की सीधी-सीधी नकल कभी नही कर सकते क्योकि इतिहास कभी पुनरावृत्ति नहीं करता। अपने युग में उन्होने जो किया था, आज उसके दुहराने की कोई आवश्यकता नही।

हमें अपनी आँखें खोल रखने की जरूरत है, अपनी समस्याओ का पता लगाना है और उनके हल करने में अतीत से उत्तेजना अथवा प्रेरणा प्राप्त करनी है। सत्य की भावना किसी वाह्य रूप से चिपटी नही रहती वरन् वह तो उसे बराबर बदलती रहती है। पुराने शब्दों का भी प्रयोग नये ढग से किया जाता है। वर्तमान दर्शन वर्तमान युग के हो लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, अतीत के लिए नही। उसका रूप तथा विषय उतना ही मौलिक होगा जितना कि वह जीवन जिसकी विवेचना में वह सलग्न है। चूँकि वर्तमान अतीत से सम्बद्ध है, अत' अतीत से सम्बन्ध-विच्छेद कभी नही होगा।

रूढिवादियो की एक युक्ति यह भी है कि सत्य पर युग का प्रभाव नही पडता। सत्य का स्थान कभी दूसरा नही ग्रहण कर सकता, वैसे ही जैसे अस्तोन्मुख सूर्य अथवा माता के वात्सल्य प्रेम की पूर्ति किसी दूसरी वस्तु से नही की जा सकती। सत्य शाश्वत हो सकता है पर उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है, उसमें परिवर्तन सम्भव है। हम आत्मा तो अतीत से ले सकते है, क्योकि आरम्भिक सिद्धान्त अब भी नितान्त आवश्यक है, पर शरीर तथा प्राण वर्तमान से ही लेने होगे। हम भूल जाते हैं कि जिस रूप में धर्म आज हमारे सामने है, वह स्वय अनेक परिवर्तनो से युक्त युगो का परिणाम है; और कोई वजह नही कि उसके रूपो में आवश्यकता पडने पर भविष्य में परिवर्तन न हो। यह सम्भव है कि हम शब्दो को मानकर चलते रहे और फिर भी उसकी समस्त भावना को बिगाड दें। यदि दो हजार वर्ष पहिले के हिन्दू-नेता, जिनमें पाण्डित्य आज के नेताओ से कम होने पर भी उनसे ज्ञान अधिक था, आज फिर हमारे बीच आ जायँ तो वे उन पण्डितो को कभी अपना अनुयायी न स्वीकार करेंगे, उनके जो कथनो

के अक्षरार्थ से रत्ती भर भी नही डिगे है।* आज बहुत ककड-पत्थर इकट्ठा हो गये है जो आत्म-सरिता के स्वतन्त्र जीवन मे बाधा बनकर उसे सुखाये दे रहे है। यह कहना कि सत्यरहित, प्राणहीन रूढियो को भी उनकी प्राचीनता तथा श्रद्धास्पदता के कारण हम स्पर्श नही कर सकते, उस रोगी को कष्ट की अवधि को बढानामात्र है जो अतीत के कलुषित विष से पीडित है। अनुदार व्यक्तियो को परिवर्तनक्षम बनना होगा। चूँकि अभी तक वे लोग इतने उदार नही हो पाये है, अतएव हमें दर्शन के क्षेत्र में तीक्ष्ण प्रतिभा एव अतात्त्विक अस्त-व्यस्तता का विलक्षण मिश्रण दिखाई पडता है। विचारशील भारतवासियो को अपनी पूर्ण शक्ति का उपयोग तो इन प्रश्नो के हल करने में करना चाहिए कि अपने प्राचीन आदर्श को अस्थायी झाड-झखाड से किस प्रकार दूर रखें किस प्रकार धर्म तथा विज्ञान में सामजस्य स्थापित करें, स्वभाव एव व्यक्तित्व के अधिकारो को किस प्रकार समझावें तथा सुलझावें और प्राचीन आदर्श के आधार पर विभिन्न प्रभावो को किस प्रकार व्यवस्थित करें। किन्तु हमारे दुर्भाग्य से कुछ परिषदें इन

* "यदि उपनिषद् बुद्ध अथवा महाकाव्य काल का प्राचीन भारतवासी आधुनिक भारत में आ पडे तो वह यह अनुभव करेगा कि उसके जाति के लोग अतीत के बाह्य रूपो, छिलको तथा चीथडो से तो चिपटे है पर उसके उच्च आदर्श के ९० प्रतिशत को भुला बैठे है। • वह हमारे बौद्धिक दारिद्र्य को, हमारी गतिहीनता को, परिवर्तनहीन लीक पीटने को, विज्ञान के गतिरोध को, कला के वन्ध्यत्व को, अपेक्षाकृत रचनात्मक स्फूर्ति की दुर्बलता को देखकर आश्चर्यचकित हो जायगा।" अरविन्द घोष, आर्य ५ प्र० ४२४

समस्याओ के सुलझाने में नही प्रत्युत् पुराण-वस्तु-पण्डितो के समाज के उपयुक्त गवेषणा मे सलग्न है। वह तो विशेषज्ञो की युद्ध-भूमि बन गया है। देश की धार्मिक शिक्षा का आयोजन उदार दृष्टि से नही हो रहा है। लोगो की समझ में नही आता कि हमारी आध्यात्मिक बपौती पर भाग्य के कतिपय लाड़लो का एकाधिकार कैसे हो सकता है? विचार तो शक्तियाँ है और यदि हमें वर्तमान वृद्धावस्था-जनित मृत्यु से उनकी रक्षा करना इष्ट है तो उनका प्रसार सभी ओर करना होगा। यह नही हो सकता कि उपनिषद्, गीता एव बुद्ध के प्रवचन, जो मानव-मस्तिष्क में इतने उच्चादर्शों का सचार कर देते थे, अब अपनी शक्ति को खो चुके हो। यदि समय निकल जाने से पहिले हम अपने जातीय जीवन को फिर से सगठित कर सके तो भारतीय दर्शन का भविष्य उज्ज्वल है; कौन कह सकता है कि इन शक्तिशील वृक्षो मे अब भी कैसे कैसे फूल खिल सकते है, कैसे-कैसे फल पक सकते है।

यद्यपि वे लोग, जो पाश्चात्य सस्कृति से बिलकुल ही अछूते हैं, विचार एव क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में रूढिवादी बने हुए हैं, किन्तु पाश्चात्य विचार-धारा में दीक्षित कुछ ऐसे लोग भी है जो प्राकृतिक बुद्धिवाद के नैराश्यपूर्ण दर्शन को मानकर हमें अतीत के भार से मुक्त होने का सत्परामर्श देते है। ये लोग परम्परा-असहिष्णु एवं अतीत के तथाकथित ज्ञान में शकालु है। "प्रगति-वादियो" की यह मनोवृत्ति आसानी से समझ मे आ जाती है। भारत को आध्यात्मिक बपौती ने आक्रमणकारियो तथा लुटेरो से उसकी रक्षा नही की। ऐसा मालूम होता है कि उसने भारत को धोखा दिया और उसे वर्तमान पराधीनता के चगुल में फँसा दिया। य देशभक्त पाश्चात्य राष्ट्रो की भौतिक सफलता का

अनुकरण करना चाहते हैं और प्राचीन संस्कृति के मूल को ही इस प्रकार खोद फेंकना चाहते हैं जिससे पाश्चात्य देशों से प्राप्त नवीनता को स्थान दिया जा सके। अभी कल तक भारतीय विश्व-विद्यालयों में भारतीय दर्शन पाठ्य-विषयों में नहीं रखा जाता था और अब भी विश्वविद्यालयों के दार्शनिक विषयों में इनका बहुत ही निम्न स्थान है। हमारी शिक्षा का सम्पूर्ण वातावरण ही भारतीय संस्कृति की हीनता के संकेतों से पूर्ण है। मैकाले ने जिस नीति का उद्घाटन किया था, उसका सांस्कृतिक महत्त्व कुछ भी क्यों न हो, वह एकांगी अवश्य है। जहाँ सदा सजग रह कर वह हमें पाश्चात्य संस्कृति की शक्ति एवं महत्ता को एक क्षण के लिए भी भूलने नहीं देती, वहीं दूसरी ओर उसने हममें अपनी संस्कृति में अनुराग एवं आवश्यकतानुसार उसमें संस्कार कर लेने की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न की। किसी-किसी पक्ष में तो मैकाले की अभिलाषा बिलकुल पूर्ण हो गई है और ऐसे शिक्षित भारतवासी हैं जो मैकाले के ही सुप्रसिद्ध शब्दों में "अंगरेजों से भी बढ़कर अंगरेज" हैं। स्वभावतः इनमें से कुछ लोग भारतीय दार्शनिक इतिहास के महत्त्व-निर्धारण में प्रतिकूल विदेशी आलोचकों का ही अनुकरण करते हैं। वे भारत के दार्शनिक विकास को मूर्खता एवं अन्धविश्वास से पूर्ण विचारों का नीरस विरोध-क्षेत्र समझते हैं। उनमें से एक सज्जन ने अभी हाल ही में घोषित किया था कि यदि भारत को उन्नति करना है तो उसे चाहिए कि वह इंगलैंड को अपनी "आध्यात्मिक जननी" तथा ग्रीस को "आध्यात्मिक मातामही" बनावे। चूंकि धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा नहीं है, अतः उन्होंने हिन्दू-धर्म को ईसाई-धर्म में परिवर्तित कर देने का प्रस्ताव

अवश्य नही किया है। आधुनिक युग के भ्रान्ति-निर्मोचित एव पराजय के शिकार इन लोगो का कहना है कि भारतीय दर्शन में अनुराग रखना यदि मिथ्या आत्म-गौरव की प्रवचना नही है तो कम-से-कम राष्ट्रीय भावनाजनित दोष तो अवश्य है।

आश्चर्य का विषय है कि जब पश्चिम के लोगो ने भारत को हास्यजनक समझना बन्द कर दिया है तो उसी की सन्तान ने उसे विचित्र समझना आरम्भ कर दिया है। पश्चिम ने भरपूर कोशिश की कि वह भारत को इस बात का विश्वास दिला दे कि उसका दर्शन मूर्खतापूर्ण, उसकी कला बच्चो का खिलवाड, उसका काव्य प्रतिभा-रहित, उसका धर्म हास्यास्पद तथा उसका आचरण-शास्त्र बर्बर है। अब जब पश्चिम यह अनुभव कर रहा है कि उसका विचार सर्वथा सत्य नही है तो हममें से कुछ लोग जोर देकर यह कह रहे है कि वह विचार पूर्णरूप से ठीक है। यह सच है कि जाग्रत् विचारो के इस युग में लोगो को सस्कृति की किसी पूर्व अवस्था में बलपूर्वक ले जाकर सन्देह के खतरे तथा तर्क की क्षोभकारिणी शक्ति से बचाये नही रखा जा सकता, पर हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि आचरण, जीवन तथा नीति के किसी सर्वथा नवीन रूप के निर्माण करने की अपेक्षा पहले से पड़ी हुई नीव पर ही निर्माण करने में अधिक सौकर्य है। अपने जीवन-स्रोत से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना हमारे लिए सम्भव नही। रेखागणित के चित्रो के विपरीत, हमारी दार्शनिक योजनाओ का प्रादुर्भाव तो जीवन-सघर्ष में ही होता है। हमारी ऐतिहासिक परम्परा ही वह भोजन है जिसे त्यागकर हम शून्यता के, मृत्यु के, मुख में जा पहुँचेंगे।

अनुदार वर्ग के लोगो का निश्चित मत है कि हमारी प्राचीन सस्कृति महान् है एव आधुनिक सस्कृति ईश्वर-विरोधी है, उग्र परिवर्तनवादियो का उतना ही निश्चित सिद्धान्त है कि प्राचीन परम्परा बिलकुल निरर्थक है तथा प्राकृतिक बुद्धिवाद ही केवल एक मार्ग है। इन मतो के समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास को ठीक-ठीक समझने का उद्योग करें तो हमें मालूम होगा कि ये दोनो ही समानरूप से त्रुटिपूर्ण है। जो भारतीय सस्कृति को निरर्थक बताकर उसकी निन्दा करते है, वे उसे जानते ही नही और जो उसे पूर्ण बताकर उसकी प्रशसा करते है, उन्हें किसी अन्य सस्कृति का ज्ञान नही। क्रान्तिवादियो तथा रूढिवादियो को, जो नूतन आशा एव प्राचीन ज्ञान के प्रतीक है, पारस्परिक सम्पर्क में आना होगा एव एक-दूसरें को समझना होगा। ऐसे ससार में, जहाँ वायुयान तथा जल-पोत, रेल तथा तार लोगो को एकता के सूत्र में बाँध रहे है, हम अन्य सम्बन्ध से बिलकुल रहित होकर नही रह सकते। हमारे दार्शनिक विचार ससार की प्रगति को प्रभावित अवश्य ही करेंगे। पोखरो की ही भाँति गतिहीन दार्शनिक धाराओ में भी अवाछित घास-फूस उग आती है पर बहनेवाली सरितायें सदा ही अभिनव निर्झरो से उत्साहरूपी निर्मल जल प्राप्त किया करती है। अन्य लोगो की सस्कृति को आत्मसात् कर लेने में कोई बुराई नही है, हाँ, जिस वस्तु को हम ग्रहण करें उसे शुद्ध एव परिष्कृत करके अपनी श्रेष्ठ वस्तु में बिलकुल मिला दें। बाहर से आकर राष्ट्रीय कडाही में गिर कर एकाकार होने के ठीक ढग का निर्देश महात्मा गाधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, अरविन्द घोष तथा श्री भगवानदास जी के लेखो में

पाया जाता है। उनमें हमें अपने उज्ज्वल भविष्य की क्षीण प्रकाश-रेखा दिखाई देती है, शुष्क पाण्डित्य पर विजय एवं महान् संस्कृति के दर्शन कर लेने के चिह्न दिखाई देते है। यद्यपि अतीत भारत के लोक-कल्याण की भावना से वे प्रभावित है पर पाश्चात्य विचारो को भी उन्होने भली भाँति समझा एव अपनाया है। वे प्राचीन मूल-स्रोत को फिर खोज निकालने के लिए उत्सुक है जिससे विशुद्ध, निर्मल प्रणालियो के द्वारा प्यासी भूमि का सिचन किया जा सके। परन्तु जिस भविष्य को देखने को हम विकल है, अभी तो उसकी सत्ता का आभास भी कही नही मिलता। बहुत सम्भव है कि उस राजनीतिक उत्तेजना के मन्द पडने पर, जिसने भारत के अनेक श्रेष्ठ विद्वानो को अपने में ही तल्लीन कर रखा है, तथा नवीन विश्वविद्यालयो में भारतीय विचार-धाराओ के अध्ययन पर अधिकाधिक ज़ोर देने के फलस्वरूप (पुराने विश्वविद्यालय इस कार्य को बडी अन्यमनस्कता से कर रहे है) नव प्रभात का उदय हो। रूढिवादी शक्तियाँ, जिन्हें भविष्य से बढकर अतीत की ममता है, आनेवाले युग में विशेष प्रभावशाली नही रह सकेंगी।

आज भारतीय दर्शन के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आ गया है। उसे यह निश्चय करना है कि यह दर्शन एक सीमित विस्तार का वर्तमान जीवन-परिस्थितियो से एकान्त असम्बद्ध छोटा-सा सम्प्रदाय-मात्र बना दिया जाय अथवा उसे वास्तविक जीवन से सम्पन्न कर दिया जाय जिससे वह अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सके, भारत के प्राचीन आदर्शों में सुवर्धित आधुनिक विज्ञान का समावेश करके उसे मानव-प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना दें। लक्षणो से तो यही प्रतीत होता है कि भविष्य में दूसरा मार्ग ही स्वीकृत होगा।

प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायो के प्रति हमारी भक्ति एव दार्शनिक लक्ष्य का अनुरोध है कि हमारा दृष्टिकोण वहुत उदार होना चाहिए। वर्तमान काल में भारतीय दर्शन की सार्थकता इसी में है कि वह जीवन को उन्नत एव महान् वना सके। भारतीय दार्शनिक विकास की विगत धारा हमारे हृदय में आशा का सचार करती है। याज्ञवल्क्य तथा गार्गी, वुद्ध तथा महावीर, गौतम तथा कपिल, शकर तथा रामानुज, माधव तथा वल्लभ एव अनेक अन्य दार्शनिक भारत के अस्तित्व को वनाये रखने के लिए अकाट्य प्रमाण है, उसके सम्मान्य जीवित राष्ट्र होने के स्पष्ट प्रमाण है, इस वात का प्रमाण है कि अव भी उठकर वह इस महती सम्भावना को यथार्थ बना सकता है।